tkxkjh dh if=dk

flrEcj&fnlEcj 2011

इन्मि सबला

ijd thofu ;k

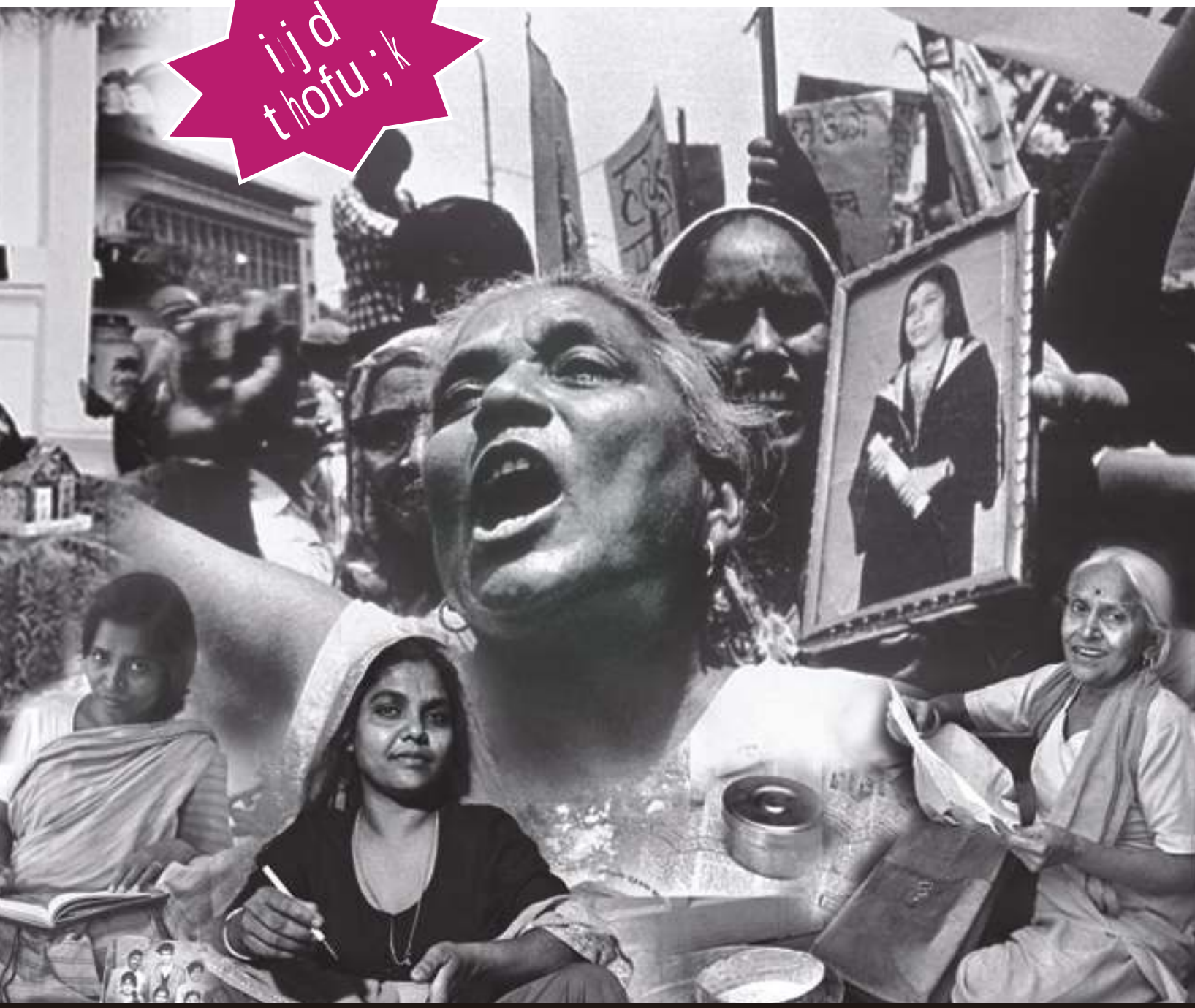

हम सबला

सितम्बर-दिसम्बर 2011

इस अंक में

संपादन एवं अनुवाद
जुही जैन

संपादन सहयोग
जया श्रीवास्तव
कल्याणी मेनन-सेन
खुर्शीद अनवर
सीमा श्रीवास्तव
गीता नम्बीशन

कवर्स फ़ोटोः शीबा छाछी

साभारः *सेवन लाइव्स एण्ड अ ड्रीम— फेमिनिस्ट पोर्टरेट्स*- शीबा छाछी

फ़ोटो में शामिल महिलाएं- सत्यारानी चड्ढा, शाहजहां आपा, देवीकृपा, शान्ति, राधा कुमार, शारदा देवी।

सज्जा व मुद्रणः सिस्टम्स विज़न
systemsvision@gmail.com

बी-114, शिवालिक
नई दिल्ली 110017
ई-मेलः humsabla.patrika@jagori.org
वेबसाइटः www.jagori.org
दूरभाषः 26691219, 26691220
हेल्पलाइनः 26692700

हमारी बात — जुही जैन — 1

लेख

इला भट्टः एक जीवनी — वीणा शिवपुरी — 2
सहनशीलता की मूर्ति बने रहना धर्म नहीं है -फ्लेविया एग्नेस — दिव्या जैन — 6
सशक्त इरादे-मन में विश्वास -मेरी कॉम — जुही — 17
न जाने मैं कौन सी मिट्टी की बनी हूं -होमाई व्यारावाला — श्रेया-निमिषा — 19
अन्या से अनन्या तक की यात्रा... - जद्दनबाई — नग़मा जावेद मलिक — 31
परम्परा व आधुनिकता के बीच -अतिया हुसैन — रक्षंदा जलील — 38

कविता

औरत — सुमन केशरी — 12
मौसेरी बहनें — पवन करण — 13
औरत — कमला भसीन — 33
कैसे नाज़ों से हूं मैं पली — कमला भसीन — 44

संवाद

सशस्त्र, सशक्त और सशक्तिकरण -इरोम शर्मिला चानू — सुनीता ठाकुर — 14
अक्का महादेवी — अनामिका — 34
आदमी से उम्मीद कैसी-अंजू — 41
अपने हक़ों के लिए संघर्ष जारी है — दयामणि बारला — 45

कहानी

औरतज़ात — उर्मिला पवार — 24

आमने-सामने

मेरी संस्कृति, मेरी विरासत -आजी और मां — सुजाता पारमिता — 10
मेरे आसमान में चमकता सितारा डॉ. कल्पना चावला — अमृता नंदी-जोशी — 22
बड़ी मुश्किल है राह पनघट की -नैनादेवी — विद्या राव — 36
एक 'अनोखी' दास्तान — मनोरमा दीवान — 47

हमारी बात

मुझे लड़ना नहीं, किसी प्रतीक के लिए
किसी संग्राम के लिए, किसी नाम के लिए
मुझे लड़नी है लड़ाई, छोटे लोगों के लिए
छोटी बातों के लिए, छोटे ख़्वाबों के लिए

महिला सशक्तिकरण की बात चले एक लम्बा अर्सा गुज़र गया है। इस दौरान समाज में औरतों के बढ़ते योगदान को कुछ हद तक स्वीकारा भी गया है; फिर चाहे सामाजिक, राजनैतिक, साहित्य या आर्थिक स्तर पर उनकी मौजूदगी यदा-कदा ही प्रत्यक्ष रही हो अथवा अपर्याप्त तरीकों से उजागर हुई हो।

अंग्रेज़ी हुकूमत के विरुद्ध गांधीजी के असहयोग आंदोलनों में भारी संख्या में महिलाएं शामिल थीं। बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश के सामाजिक सुधार प्रयासों से भी महिलाएं जुड़ी थीं। ये महिलाएं भारतीय समाज के विकास में अपनी सशक्त मौजूदगी दर्ज कराती रही हैं। इसके अलावा निर्धारित मानदण्डों को चुनौती देते हुए, अपनी शर्तों पर, अपनी चाहतों में उड़ान भरती अनेक महिलाओं की मिसालें भी हमारे सामने हैं। इन सबलाओं ने यह नहीं सोचा कि लीक से हटकर चलने पर समाज क्या कहेगा, वे किसी की इजाज़त या रज़ामंदी लेने के लिए भी नहीं थमीं। बस अपने जीवन में कुछ कर दिखाने का जुनून ले हौसले भरे क़दमों के निशान बनाती रहीं।

हम सबला का यह अंक कुछ ऐसी जीवट औरतों के अथक संघर्षों को सामने लाने का एक विनम्र व हार्दिक प्रयास है। यहां पर शामिल औरतों के जीवन के चित्रण के अलावा हमारी कोशिश यह भी रही है कि समाज के बदलते परिवेश में उनके योगदान को भी रेखांकित कर सकें। ये औरतें सबल हैं— साथ ही हमें सबला बनाने की क्षमता भी रखती हैं। अपने जीवन की जद्दोजेहद, खुशी, हार-जीत, उतार-चढ़ाव को बांटते हुए ये हमें प्रेरित करती हैं और हमारे मानस पर एक अमिट छाप छोड़ जाती हैं।

छोटी-छोटी शुरूआतों के साथ अलग-अलग वर्ग, क्षेत्र, तबके से जुड़ी ये महिलाएं समाज के विभिन्न आयामों और विमर्शों में औरतों के लिए जगह बनाती रही हैं। कलम, नाटक, फ़िल्म, कविता, आंदोलन, तस्वीर, संगीत साक्षी हैं इनके व अन्य समूहों और समुदायों के आपसी जुड़ाव और परिवर्तन की चाह का।

इतिहास में ये नाम शामिल हों चाहे न हों पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अपने-अपने तरीकों से व अलग-अलग स्तर पर इन सबलाओं का संघर्ष व साहस उन सभी औरतों की ख्वाहिशों का प्रतिनिधित्व करता है व उन्हें हौसला देता है जो इस समाज का आधा हिस्सा है। हम सबला में औरतों की इसी हिम्मत व शक्ति को सलाम करते हुए हम इसका जश्न मनाते हैं।

– जुही

लेख

इला भट्ट: एक जीवनी

वीणा शिवपुरी

इला भट्ट (बीच में) सेवा की महिलाओं के साथ

आज़ादी की रोशनी, उम्मीदों की खुशबू
इस मोड़ के आगे है, एक क़दम और बस, एक क़दम

कुछ ऐसे ही माहौल में 7 सितम्बर 1933 को इला भट्ट का जन्म हुआ। घर में पिता और दादा वकील थे। ननिहाल में गांधी जी का प्रभाव था। नानाजी ने दांडी मार्च में हिस्सा लिया था और दो मामा जेल भी गए थे। मां अधिक नहीं पढ़ सकीं लेकिन कविताएं लिखा करती थीं। ज़ाहिर है, इला को पढ़ाई-लिखाई और ऊंचे आदर्शों की विरासत मिली। उनकी स्कूल-कॉलेज की शिक्षा सूरत शहर में हुई।

युवा मन पर दो बड़े प्रभाव

देश आज़ाद हो चुका था। पहली जनगणना हो रही थी। युवा लड़के-लड़कियों की मदद से आंकड़े इकट्ठा किए जा रहे थे। उन्हीं में शामिल थीं इला भट्ट। साइकिल पर बस्ती-बस्ती घूम कर उन्हें लोगों से मिलने और उनके बारे में जानने का मौक़ा मिला। इला ने पहली बार ग़रीबी को नज़दीक से देखा जिसने उनके मन को झकझोर दिया। उनके दिल को

छूने वाली दूसरी बात थी अपने भावी पति से मुलाकात। जनगणना के दौरान उनके साथ काम करने वाले, कपड़ा मिल मज़दूर के आदर्शवादी बेटे, रमेश भट्ट ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। युवा मन पर पड़े इन दो प्रभावों ने उनके व्यक्तिगत और कार्यकारी जीवन की दिशा तय कर दी।

पिता को चिंता थी कि आराम में पली इला क्या रमेश के साथ सुखी रह पाएगी। इला ने फ़ैसला किया कि वे एक साल तक गांव में सिर्फ़ साठ रुपये महीने पर जी कर दिखाएंगी। इला ने साबित कर दिया कि वे सुख-सुविधाओं के बिना भी खुश रह सकती हैं। 1956 में इला भट्ट और रमेश भट्ट ने विवाह कर लिया।

कामकाजी जीवन की शुरूआत

1955 में कानून की पढ़ाई पूरी करके वे गांधी जी द्वारा स्थापित कपड़ा श्रमिक संगठन (टीएलए) में काम करने लगीं। यहां वे मज़दूरों की समस्याएं सुलझाती थीं। कभी बातचीत से तो कभी वकील के रूप में अदालत जाकर। 1960 में तीन साल के लिए उन्होंने रोज़गार दफ़्तर में सरकारी नौकरी भी की। आख़िर में वे फिर से टीएलए से जुड़ गईं।

आने वाले जीवन में, जिस काम के लिए उन्हें जाना और माना गया उसकी नींव इसी समय पड़ी। इस समय घटी दो घटनाओं ने उन पर गहरा असर डाला। पहली थी 1968 में अहमदाबाद की दो बड़ी कपड़ा मिलों का बंद होना। हज़ारों मज़दूर बेरोज़गार होकर आंदोलन कर रहे थे। उनकी पत्नियां छोटे-मोटे काम करके भूखे बच्चों का पेट भरने की कोशिश में लगी थीं। वे बोझा उठातीं, फेरी लगातीं, कपड़े सीतीं, लोगों के घरों में चौका-बरतन करतीं। इला का ध्यान, औरतों की दयनीय हालत पर गया जो बहुत ज़्यादा मेहनत करती थीं, लेकिन कमाती बहुत कम थीं। इसी समय घटी एक और घटना ने इला को ऐसी ही अनेक औरतों के जीवन से परिचित कराया। 1969 में अहमदाबाद में साम्प्रदायिक दंगे छिड़ गए। इला टीएलए सदस्यों के साथ शांति और सहायता के कामों में लगी थीं। इस बार उन्होंने न सिर्फ़ ग़रीबी और लाचारी बल्कि हिंसा और मौत को भी क़रीब से देखा। उजड़े, लुटे हुए, बेघरबार परिवार देखे। इसी समय किए गए सर्वेक्षण से मालूम हुआ कि हज़ारों औरतें भारी बोझ लाद कर ठेले खींचतीं हैं, पुराने कपड़े बेचती हैं, कतरनों से गुदड़ी बनाती हैं, बीड़ी बनाती हैं या सब्ज़ी का धंधा करती हैं।

ये सभी औरतें चाहे हिन्दू थी या मुसलमान, ग़रीब थीं। अपने परिवार को संभालने और कमाई करने का दोहरा बोझ उठा रही थीं। वे असंगठित क्षेत्र में थी यानि सरकार की नज़र में वे मज़दूर नहीं थीं। उनके काम की मान्यता या उनका दर्जा नहीं था। बीमा या बैंक कर्ज की सुविधा भी नहीं थी। वे श्रम बाज़ार में अदृश्य रहते हुए अपना परिवार पाल रही थीं।

एक नई दिशा, एक नया जोश

एक प्रशिक्षण कार्यक्रम में भाग लेने इला बेन को इज़राइल जाने का मौका मिला। वहां ट्रेड यूनियनों को सहकारी संगठनों की तरह काम करते देख, वे बहुत प्रभावित हुईं। उन्हें एक नई दिशा मिली। उन हज़ारों औरतों के लिए जो कठिन हालात में खुद का धंधा कर रही थीं।

सेवा की महिलाओं के साथ नारे लगाती इला भट्ट

अहमदाबाद वापस लौट कर पहली कोशिश हुई बोझा ढोने वाली औरतों के लिए। इला बेन ने उनकी कम मज़दूरी के बारे में एक लेख लिखा। जवाब में व्यापारियों ने इसको ग़लत बताते हुए अख़बारों में बढ़े हुए रेट छपवाए। इला बेन ने उन दरों के पर्चे छपवा कर बोझा उठाने वाली औरतों के बीच बांट दिए। अब व्यापारी अपने ही झूठ के जाल में फंस गए थे। उन्हें बढ़े हुए रेट देने पड़े। यह एक बड़ी जीत थी।

सेवा का जन्म

संगठित होने वाला अगला समूह था पुराने कपड़े बेचने वाली औरतों का। उन सबने खुशी-खुशी तीन रुपये साल का सदस्यता शुल्क दिया। यह शुरूआत थी *सेवा* यानि *सैल्फ़ एम्प्लॉयड विमेन्स असोसिएशन* की। बड़ी कोशिशों के बाद 12 अप्रैल 1972 को *सेवा* एक ट्रेड यूनियन के रूप में पंजीकृत हुई।

अधिकारी सवाल उठा रहे थे। अपने संगठन को आप ट्रेड यूनियन कैसे कह सकती हैं? आपका काम क्या है? मालिक कौन है? लड़ाई किसके ख़िलाफ़ होगी? आदि। बड़ी मुश्किल से समझाया गया कि ट्रेड यूनियन का काम सिर्फ़ लड़ना नहीं बल्कि अपनी मदद करना भी होता है। यदि लड़ाई होगी भी तो किसी व्यक्ति के ख़िलाफ़ नहीं बल्कि शोषणकारी व्यवस्था के ख़िलाफ़ होगी।

ऐसा नहीं है कि इसके बाद रास्ता आसान हो गया। रुकावटें और उलझनें आती रहीं लेकिन अब कोई औरत अकेली नहीं थी। वे सब मिल कर एक दूसरे का हौसला बढ़ाती और हल खोजतीं। चर्चाओं और बैठकों से पता लगा कि औरतों के पास धंधे के अपने औज़ार नहीं है और न खरीदने के लिए पैसा। बैंक कर्ज़ नहीं देता, महाजन की ब्याज़ दर बहुत ज़्यादा हैं। एक दिन चंदा बेन पूछ बैठी "हमारा अपना बैंक क्यों नहीं हो सकता?"

"बैंक तो धनी लोगों के होते हैं, हम तो ग़रीब हैं।" किसी और ने जवाब दिया। "उसके लिए तो कम से कम लाख रुपया चाहिए", सबके दिल बैठ गए।

संगठन की ताक़त ने फिर अपना असर दिखाया। सदस्यों की दस-दस रुपये की छोटी बचत से मई 1974 में शुरू हुआ *श्री महिला सेवा सहकारी बैंक लिमिटेड*। संसार में औरतों का पहला अपना बैंक। आज यह बैंक अहमदाबाद की एक बहुमंज़िला इमारत में व्यापार कर रहा है। इला बेन कहती हैं, "हम जानते हैं कि औरतें किन

मंडी में सब्ज़ी बेचने वाली औरतों के बीच इला भट्ट

हालात में जीती हैं, इसलिए खतरा उठा कर भी कर्ज़ देते हैं। अन्य बैंक ऐसा नहीं करते। खुशी की बात यह है कि कर्ज़ लौटाने की दर हमारे यहां उनसे अच्छी है। यहां सभी औरतें जानती हैं कि यह बैंक उनका अपना है।"

सेवा और इला बेन का कार्यक्षेत्र फैला

1976 में *सेवा* ने अपने काम का दायरा देहातों में भी फैलाया। रेगिस्तान की औरतें पीढ़ियों से घर में दस्तकारी करती और मवेशी पालती थीं। उनके इन घरेलू कामों को बाज़ार तक लाकर कमाई का ज़रिया बनाया गया। बाहरी एजेन्सियों की मदद से उनका हुनर सुधारा।

एक आवर्ती कोष खोला गया ताकि वे कच्चा माल और मवेशी ख़रीद सकें। आज कच्छ की दस्तकारी विदेशों में बिकती है। यायावर जातियां एक जगह बस गई हैं। उनके बच्चे स्कूल जा रहे हैं।

सेवा ने अपने काम के शुरूआती दौर में सात मुख्य धंधों को चिन्हित किया था। समय के साथ यह दायरा और सदस्यों की संख्या बढ़ती गई। आज *सेवा* की सदस्य संख्या 3,18,527 है।

इसी प्रकार इला बेन का काम गुजरात से निकल कर दिल्ली व अन्य प्रांतों और फिर विश्व के मंचों तक पहुंचा। *सेवा* का उदाहरण दुनिया की सभी ग़रीब औरतों के लिए आशा की किरण बना।

देश-विदेश में मिली सराहना

- 1977 में इला भट्ट को सामुदायिक नेतृत्व के लिए मेगसेसे पुरस्कार दिया गया।
- मानवीय पर्यावरण में बदलाव लाने के लिए 1984 में उन्हें राइट लाइवलीहुड पुरस्कार मिला।
- भारत सरकार ने उन्हें 1985 में पद्मश्री और 1986 में पद्मभूषण प्रदान किया।
- अनेक विश्वविद्यालयों ने इला भट्ट को डॉक्टर की मानद उपाधि से भी नवाज़ा है।
- 1987 में वे राज्यसभा की सदस्य मनोनीत हुईं।

वे महिला विश्व बैंक की संस्थापकों में से हैं। रॉकफैलर फ़ाउन्डेशन की न्यासी हैं। भारत के पहले राष्ट्रीय महिला आयोग से भी जुड़ी रहीं। अभी हाल में उन्हें प्रतिष्ठित रैडक्लिफ़ पुरस्कार भी मिला है।

इला भट्ट को मिलने वाले पुरस्कारों की सूची बहुत लम्बी है। पुरस्कार साबित करते हैं कि उनके काम ने हज़ारों, लाखों ग़रीब, असहाय औरतों का जीवन बदल दिया है। आज वे औरतें संगठित हैं, सशक्त हैं, आत्मविश्वासी हैं और आर्थिक रूप से अपने पैरों पर खड़ी हैं।

इला बेन मानती हैं कि वे मात्र *सेवा* का चेहरा हैं। इन पुरस्कारों के पीछे *सेवा* की लाखों सदस्यों की मेहनत और इच्छाशक्ति है।

इला भट्ट को समझने के लिए उनका सादा जीवन और 'सेवा' को समझना ज़रूरी है। साथ ही ज़रूरी है उनके विचारों को समझना।

इला भट्ट – एक सोच

इला भट्ट स्वयं कहती हैं कि वे आज़ादी की लड़ाई के आखिरी हिस्से की पैदाइश हैं। जब घर-बाहर, स्कूल-कॉलेज में आज़ादी की चर्चा होती थी। गांधी जी के आदर्शों और सिद्धांतों की बात होती थी। सच्चाई, शांति और अहिंसा जैसे मूल्यों पर कोई समझौता नहीं हो सकता था।

इन सबने मिलकर इला को वह बनाया जो वे आज हैं। वे मानती हैं कि औरतें स्वाभाविक रूप से अगुवाई कर सकती हैं। औरतें ही परिवार और समाज में बदलाव लाती हैं, और वह भी प्यार, शांति और अहिंसा से।

इला भट्ट कहती हैं कि हमने धरना, सत्याग्रह और हड़ताल का इस्तेमाल किया है। कभी-कभी मजबूरी में अदालत भी गए हैं लेकिन हम बातचीत से मसले सुलझाना चाहते हैं।

इला भट्ट, विकास की गांधीवादी विचारधारा की समर्थक हैं जिसके केंद्र में मनुष्य हो। वे नई तकनीकों और भूमंडलीकरण को पूरी तरह खारिज नहीं करतीं। इनसे कई फायदे भी हैं। वे शक्ति संतुलन को ग़रीबों और औरतों के पक्ष में बदलना चाहती हैं।

इला भट्ट और *सेवा* की सोच है कि संघर्ष और असफलताएं जीवन का हिस्सा हैं। संगठन हमें अपनी नाकामयाबी से कुछ सीख कर आगे बढ़ने की ताक़त देता है। शायद यही वजह है उन दोनों की सफलता की।

वीणा शिवपुरी *लेखिका व विकास कार्यकर्ता हैं।*

लेख

मजसिल की साथियों के साथ फ्लेविया (बीच में)

सहनशीलता की मूर्ति बने रहना धर्म नहीं है
-फ्लेविया एग्नेस

दिव्या जैन

फ्लेविया एग्नेस, एक ऐसी नारीवादी और साहसी वकील का नाम है जिसने 1990 में चार-पांच अन्य स्त्रियों के साथ मिलकर *मजलिस मंच* की स्थापना की थी। इस मंज़िल तक पहुंचने के लिए उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा था। मैट्रिक पास होते ही विवाह के लिए प्रस्ताव आने लगे। पहला ही लड़का पसंद आ गया और 1967 में दोनों शादी के बंधन में बंध गये। लेकिन तेरह साल के विवाहित जीवन में घरेलू हिंसा, मार-पीट व तकलीफ़ ही मिली। उनके जीवन के इन्हीं अनुभवों ने उन्हें परिपक्वता प्रदान की है और आज वे *मजलिस मंच* की सक्रिय वकील के तौर पर फैमिली कोर्ट तथा हाईकोर्ट में स्त्रियों को उनके खोये हुए अधिकारों को वापस दिलवाने के लिए लड़ाई लड़ रही हैं।

तेरह साल की जंग के बाद इस मुकाम पर पहुंचकर जीवन में आपने क्या पाया है? इस प्रश्न के उत्तर में

फ्लेविया बताती हैं, 'अगर भौतिक सुख-सुविधाओं की बात करुं, तो ज़िंदगी ने मुझे कुछ नहीं दिया है, लेकिन 'स्वतंत्रता' नामक एक छोटा सा शब्द, मेरे शब्दकोश में प्रथम स्थान पर है। अलबत्ता, जिस व्यक्ति को जीवन में कभी भी शारीरिक हिंसा का अनुभव न हुआ हो, जिसे आवश्यक चीज़ों के लिए गिड़गिड़ाना न पड़ा हो, जिसे अमानवीय बर्ताव का अनुभव न हुआ हो और जिन्हें अपमान के घूंट न पीने पड़े हों उसे मेरी बात समझ में नहीं आयेगी। आज मैं स्वतंत्र हूं, यानी जिस घर में मैं रहती हूं वहां से कोई मुझे आधी रात को भूखा-प्यासा, रोता-बिलखता बाहर नहीं निकाल सकता।

अब मुझे कोई नौकरी या मेरी पंसद का काम करने से रोक नहीं सकता। ऑफिस से वापस घर लौटने पर अब मुझे डर नहीं लगता है। अब रास्ते में कोई फ्लेविया कहकर आवाज़ लगाये तो मैं घबराती नहीं हूं। अब मैं पूर्ण रूप से फ्लेविया हूं। केवल किसी की मां, पत्नी या बेटी नहीं।'

फ्लेविया का बचपन मंगलोर में बीता। 'मंगलोर में मेरी एक अविवाहित मौसी रहती थीं। मेरे माता-पिता और बहनें तो अफ्रीका में रहती थीं। मौसी का घर छोटा, लेकिन सुंदर था। मैं कन्नड़ माध्यम के स्कूल में पढ़ने जाती थी। मौसी के यहां मैं बहुत प्यार-दुलार से बड़ी हुई। मैंने जब एस.एस.सी. की परीक्षा दी तब मौसी बीमार हो गई और उनकी मृत्यु हो गई। छह महीने के बाद मेरे पिताजी की भी मृत्यु हो गई। मुझे अफ्रीका जाना पड़ा। वहां एक ऑफ़िस में टाईपिस्ट की नौकरी मिल गई।

पिताजी की मृत्यु के बाद आगे पढ़ना तो संभव ही नहीं था। जीवन में कुछ हद तक स्थिरता आयी थी लेकिन दुर्भाग्य से अफ्रीका में भी उस वक्त कुछ संघर्ष शुरू हुआ और हम सभी को भारत वापस आना पड़ा।

कोई भी लड़की जब बड़ी होती है तो आमतौर पर माता-पिता उसकी शादी करके एक ज़िम्मेदारी से मुक्त होना चाहते हैं। हम पांच बहनें व एक भाई थे, लेकिन भाई हमारे साथ नहीं रहता था। पिता की मृत्यु के बाद हमारी शादी करवाने की ज़िम्मेदारी अकेली मां पर थी। बहनों में मैं तीसरे नंबर पर थीं। एक बड़ी और एक छोटी बहन की शादी हो गई थी। मेरे साथ शादी करने के लिए जो लड़का आया था उसने दहेज न लेने की बात कही। वह पढ़ा-लिखा था और उसकी तनख्वाह भी अच्छी थी। वह मुझसे उम्र में बारह साल बड़ा था। बहरहाल... उस वक्त सब कुछ अच्छा ही लगा था, इसलिए शादी कर ली।

हनीमून करके वापस लौटे ही थे कि पति ने अपना असली रूप दिखाना शुरू कर दिया। दहेज न लेने की बात कहने वाले पति ने एक दिन अचानक कहा कि अपने सारे गहने मुझे दे दो। मना करने पर उसने मेरा हाथ मरोड़ दिया। हाथ पर गहरे निशान पड़ गये थे। उस दौरान हम दोनों मंगलोर मां के पास गए थे। मेरे हाथ पर ऐसे दाग देखकर मेरी मां भयभीत हो गई थीं।

ऐसे बर्ताव के लिए कोई खास वजह नहीं थी। मुझे दमा था लेकिन शादी से पहले इस बारे में चर्चा करना किसी को भी उचित नहीं लगा था। पति को जब इस बारे में पता चला तो उसे लगा कि उसके साथ धोखा हुआ है। सालों तक मुझे इस बात का पछतावा होता रहा। लेकिन जिस प्रकार के अत्याचार मेरे पति ने मुझ पर किये, उससे यह साबित हो गया था कि मुझे दमा न भी होता तब भी उसका व्यवहार ऐसा ही रहनेवाला था।

पति ने जब पहली बार मुझ पर हाथ उठाया तब मुझे सदमा लगा। दूसरी बार लकड़ी के हैंगर से मारा और तीसरी बार पट्टे से मारा। मैंने तो सपने में भी ऐसी कल्पना नहीं की थी। उसके लिए मुझे पीटने का क्रम तो जैसे रोज़ का हो गया था। ऐसी स्थिति में मुझे लगता था कि सब कुछ छोड़कर कहीं चली जाऊं। लेकिन उस वक्त मेरे गर्भ में आकार ले रहा बच्चा मेरे पैर की ज़ंजीर बन गया था। पति की मार से मेरा तन और मन दोनों घायल हो गये थे। मेरी बीमारी भी बढ़ रही थी। उस वक्त मैं मां के पास चली गई और वहां मैंने एक बेटे को जन्म दिया। मेरी पीड़ा देखते हुए मां ने कहा कि तुम यहीं रहो, मैं तुम्हारी और बच्चे की ज़िम्मेदारी लेने के लिए तैयार हूं। मैंने कहा, नहीं, मेरा पति के पास रहना ही उचित है।

मां ने समझाया शादी कोई बच्चों का खेल नहीं है, पति के साथ झगड़ा मत कर, उसका कहना मान कर रह। मैंने परिस्थिति के अनुसार सामंजस्य बैठाने की भरपूर कोशिश की लेकिन मुझे सफलता नहीं मिली। काफी समय

ऐसे ही निकल गया। इस बीच मैं दो बेटियों की मां भी बन गई।

ऐसा नहीं था कि हमारे विवाहित जीवन में सुख के पल नहीं आये। खुशी के छींटे हम पर कभी-कभी गिर जाते थे। झगड़े और मारपीट के बिना गुज़ारा हुआ एकाध दिन, मित्रों के साथ गुज़ारी हुई कोई खुशनुमा शाम, साथ मिलकर बच्चों के साथ खेलना, उन्हें प्यार करना और रात के अंधेरे में बोले हुए प्रेम के दो मीठे शब्द। लेकिन ऐसे पल कभी-कभार ही आते थे; शांति का पर्दा चीरकर हिंसा; का ज्वालामुखी कब फट पड़ेगा यह कहना मुश्किल था। इसलिए आत्मीयता के उन पलों का आनंद भी मैं पूर्ण रूप से नहीं ले पाती थी।

पति को मुझ पर अत्याचार करने की आदत पड़ गई थी। बच्चों को सताने में भी उसने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। छोटी-छोटी गलतियों पर उन्हें घर से निकाल देना, उन्हें स्कूल की फीस, जूते, किताबें, नोटबुक आदि के लिए पैसा नहीं देना आदि। इस बारे में पति को मेरा कुछ भी कहना संभव नहीं था। एक बार मैंने इस बारे कुछ कहा तो उसने मुझे इतना पीटा कि मैं बेहोश हो गई।

अंततः मैंने नौकरी करने का विचार किया। एक बैंक में अर्ज़ी की, इन्टरव्यू के लिए कॉल आया, इन्टरव्यू दिया, लिखित परीक्षा में भी पास हो गई। हमारे खानदान में नौकरी करना संभव नहीं है ऐसा कहकर पति ने नियुक्ति पत्र फाड़कर फेंक दिया। उसके बाद मैंने बच्चों को घर में पढ़ाना शुरू किया। उसमे भी पति को आपत्ति थी। वह कहता, घर मेरा है, मेरा टेबल है, मेरी चीज़ों का उपयोग तुम पैसा कमाने के लिए नहीं कर सकती हो। मैंने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। मैं उसके आने से पहले ही ट्यूशन खत्म कर देती थी। इसके बावजूद कभी-कभार ट्यूशन में देर हो जाती तो वह बच्चों की किताबें उठाकर फैंक देता था।

हमारे कैथलिक धर्म में तलाक लेना संभव नहीं है। मैंने अलग-अलग चर्च के पादरियों की मदद भी मांगी लेकिन कोई मदद नहीं मिली। मेरी पीड़ा और तकलीफ़ मैं ही ज़्यादा जान-समझ सकती थी। अपने लिए रास्ता भी मुझे ही ढूंढना था। खूब सोचने के बाद मैंने एक लेख लिखकर अपनी जीवन-कथा कहने का निश्चय किया। इस लेख में मैंने घर की चारदीवारी में रहने वाली स्त्रियों पर होने वाली हिंसा की बात की। इस लेख पर मुझे सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया मिली। कई लोगों ने मुझे घर छोड़ देने की सलाह दी और अपने घर में आश्रय देने का प्रस्ताव भी रखा।

इस दौरान एक संशोधन करने वाली संस्था के साथ जुड़ी हुई मेरी एक सहेली ने मुझे नौकरी का प्रस्ताव दिया। इस संस्था के लोग पति प्रताड़ित स्त्रियों के साथ काम करते थे। यहां काम करते हुए मुझे पता चला कि इस दुनिया में मेरे जैसी कितनी सारी औरतें हैं। इस काम से मेरा आत्मविश्वास भी बढ़ा। मैंने दो-तीन महिला पत्रिकाओं में दूसरे नाम से लेख भी लिखे। मुंबई में आयोजित एक गोष्ठी में 'स्त्री मुक्ति आंदोलन' विषय पर एक लेख पढ़ा। धीरे-धीरे नये रास्ते विकसित होने लगे।

लेकिन दूसरी ओर घर की स्थिति और अधिक बिगड़ रही थी। इस स्थिति में घर में काम करना मुश्किल था। दो-तीन बार घर छोड़कर चली गई, लेकिन किसी भी तरह पति काम करने नहीं देता था। मुझे सताने में उसे खुशी होती थी। मेरी डायरी, फाइलें, टाइप किये हुए कागज़, संदर्भ सामग्री जो भी उसके हाथ आता, फाड़ देता था। अब मुझे निश्चत तौर पर समझ में आ गया कि इस आदमी के साथ रहना बिलकुल संभव नहीं है। आखिरकार मैंने घर छोड़ देने का फैसला कर ही लिया। मेरी मित्रों ने मेरी मदद की। मैंने पति का घर छोड़ दिया। अब बच्चों को परेशान करने का उसे एक और हथियार मिल गया था, लेकिन बच्चे अपनी उम्र से ज़्यादा समझदार हो गए थे। "मम्मी हम ठीक हैं, तुम चिंता मत करना"— बच्चों के ये शब्द मुझे चलने की शक्ति प्रदान करते थे।

मेरे जीवन में एक नया अध्याय शुरू हुआ था। *फोरम अगेंस्ट रेप* संस्था में मैंने पहले कुछ समय तक काम किया था। इसलिए यहां के कामकाज की जानकारी तो मुझे थी ही। लेकिन मुझे लगा कि बड़े मुद्दों के बीच छोटे प्रश्नों की उपेक्षा हो रही थी। मेरी सोच के अनुसार, एक संस्था की ज़रूरत थी जहां स्त्रियां अपना मन हल्का कर सकें। इस ज़रूरत को ध्यान में रखकर मैंने पांच अन्य स्त्रियों के साथ मिलकर सितंबर 1981 में *नारी केन्द्र* की स्थापना की। इन पांच में से एक स्त्री के घर में *नारी केन्द्र* का कामकाज शुरू हुआ। हम में से किसी के पास भी समाज-सेवा की डिग्री या अनुभव नहीं था। हां... काम करने का उत्साह ज़रूर था। धीरे-धीरे मदद करनेवाली और मदद पानेवाली स्त्रियों की संख्या बढ़ने लगीं।

उसी दौरान मुझे लगा कि मुझे अधिक शिक्षा अर्जित करने की ज़रूरत है। स्त्रियों की समस्या को लेकर जब मैं पुलिस स्टेशन या कोर्ट जाती तो मेरा अज्ञान मेरे सामने बाधा बन जाता था। मैंने एस.एन.डी.टी. विश्वविद्यालय में पढ़ना शुरू किया। बी.ए. में मुझे डिस्टीक्शन के साथ फर्स्ट क्लास मिली। मेरा मनोबल निश्चत तौर पर बढ़ा।

कष्ट तो जीवन में बहुत झेला, लेकिन मेरी मुक्ति का मार्ग भी मुझे ही ढूंढना था और उसके लिए प्रयत्न भी मुझे ही करने थे, जो मैंने किये। इस तरह अच्छे-बुरे दिन गुज़र रहे थे। इसी समय मुझे कनाडा में एक महिला कॉन्फ्रेंस में जाने का मौका मिला। जब मैं कनाडा से वापस आई तब मैंने देखा कि मेरी बेटियों की दशा बहुत ही खराब थी। मेरा पति उन्हें अच्छी तरह से नहीं रखता था और न ही उन्हें मेरे साथ रहने देता था।

इसी दौरान कानूनी दांव-पेंच शुरू हुआ। मेरे पति ने पूरी कोशिश की कि बेटियां उनके साथ रहें पर उच्च न्यायालय ने लड़कियां मेरे हवाले कर दीं। आज हम सभी सुख से रहते हैं।

किसी भी लड़ाई में कायदे-कानून की जानकारी ज़रूरी होती है। *नारी केन्द्र* में आने वाली स्त्रियों को कानूनी जानकारी की ज़रूरत होती थी। इसलिए मैंने लॉ कॉलेज में दाखिला लिया। चालीस साल की उम्र में मुझे एल.एल.बी. की डिग्री मिली और मैंने वकालत करने की शुरूआत की।

मजलिस की दूसरी दो साथियों के साथ मैं हर महीने कम से कम दस-पंद्रह स्त्रियों की ओर से फैमिली कोर्ट में मुकदमा दायर करती हूं। इसमें से अधिकांश मामले तलाक या गुज़र-बसर के होते हैं। हम कार्यकर्ताओं के लिए कानूनी साक्षरता कक्षाएं भी चलाते हैं।

आज तिरपन साल की उम्र में ज़िंदगी से मुझे कोई शिकायत नहीं है। मेरे मन में कड़वाहट भी नहीं रही है। मैं खुश हूं। स्त्रियों के अधिकारों के लिए लड़ने वाली एक वकील के तौर पर मुझे प्रतिष्ठा भी मिली है। पति-परिवार से पीड़ित स्त्रियों के लिए लड़ना, उन्हें उनके खोये हुए अधिकार वापस दिलवाना, उनकी मदद करना, और उन्हें आश्रय देना, यही मेरे जीवन का मूल उद्देश्य है।

1991 में फ्लेविया को नीरजा भनोत पुरस्कार से भी नवाजा गया था।

दिव्या जैन *'अंतरंग संगिनी' पत्रिका की सम्पादक हैं।*

आमने-सामने

मेरी संस्कृति, मेरी विरासत
-आजी और मां

सुजाता पारमिता

मेरी विरासत की जड़ें गहराई तक मेरी ज़मीन में जमी हुई हैं जो भारत के बहुसंख्यक गरीब दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, पिछड़े वर्ग और स्त्रियों की श्रमजीवी संस्कृति की अस्मिता का प्रमाण है।

भारतीय समाज दो संस्कृतियों के निरन्तर टकराव के इतिहास का गवाह रहा है। एक अभिजात्य वर्ग की ब्राह्मणवादी संस्कृति जो सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है, यथा स्थिति बनाये रखना चाहती है, जिसके राष्ट्रवाद में संस्कृति की परिभाषा अलग है। इस राष्ट्रवाद की भावना के विस्तार के लिए निर्धारित कार्य योजना में उग्र सोच या विचारों की कोई सीमा तय नहीं है। इसी संस्कृति ने भारत को कभी एक वर्ग, जिन्सियत और जाति विहिन धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनने नहीं दिया। शिक्षा, विज्ञान और तकनीक को कुछ मुट्ठीभर लोगों तक ही समित रख देश के विकास को रोक दिया। देश के इतिहास को एक प्रजातान्त्रिक देश के इतिहास की बजाय गुलाम देश के इतिहास में तब्दील कर दिया।

दूसरी संस्कृति इस स्थिति से हमेशा लड़ती आयी दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, पिछड़े वर्ग और स्त्रियों की श्रमजीवी लोक संस्कृति है जो जंगल, पहाड़, और गांव की ज़मीन से उपजी, उसकी मिट्टी में ही पली-बढ़ी और जो सामाजिक न्याय और सत्ता के विकेन्द्रीकरण को लोकतंत्र की बुनियादी शर्त मानती है।

मैं भी इसी श्रमजीवी संस्कृति की पहचान का हिस्सा हूं। मेरे ही पुरखों ने मोहनजोदाड़ो की उन्नत सभ्यता को मूर्त रूप दिया। अजन्ता-एलोरा की गुफाओं में कलात्मक चित्रकारी की। पत्थरों को तराश कर कुतुबमीनार, खजुराहो, कोणार्क, मीनाक्षी, तंजावुर और हम्पी जैसे अनगिनत मंदिरों को बनाया। दुनिया में प्रेम की सबसे बड़ी निशानी ताजमहल पर बेजोड़ नक्काशी की। ढाका की महीन मलमल और खूबसूरत रेशम बुनी और उस पर सोने-चांदी के तारों से लाखों डिज़ाइन बनाये। हीरे-मोती जड़कर सुन्दर ज़ेवरात बनाये। लोकसंगीत, लोकनाट्य और लोकनृत्यों की अनगिनत शैलियों का निर्माण कर देश को मनोरंजन की कई विधायें दीं। लेकिन भारतीय इतिहास में ऐसे कुशल और बुद्धिजीवी कारीगर और कलाकार गुमनाम ही रह गये।

मेरे आजोबा (नाना) रामाजी दामाजी महार अनाथ थे लेकिन परिवार का महत्व अच्छी तरह से जानते थे। जब तक ज़िन्दा रहे अपने बच्चों की ज़िम्मेदारी को पूरी ईमानदारी के साथ निभाते रहे। मेरी आजी (नानी) भागेरथी बाई नन्देश्वर बड़ी ही ज़िन्दादिल और मेहनती महिला थीं। अनपढ़ होने के बावजूद भी वक्त के साथ बदलने की उसकी ताकत आश्चर्यजनक थी। मेरे आजोबा उस क्लब में काम करते थे जहां अंग्रेज़ अपनी शाम बिताया करते। शराब में सोडा मिलाकर पेग बनाना उन्हें खूब आता था। अंग्रेज़ों के खाने की टेबल लगाना उस पर मेज़पोश बिछाकर नेपकिन, प्लेट, कांटा-छुरी सजाना वह सभी काम करीने से करना जानते थे।

उसी क्लब के पीछे बने नौकरों के कमरों में अन्य कामगारों के साथ ही आजी-आजोबा भी रहते थे। खाने-रहने की व्यवस्था और स्थायी नौकरी उन दिनों दलितों के लिए उस सपने जैसा था जो शायद ही पूरा हो सके। लेकिन आजी का उस माहौल में दम घुटता था। वह जल्दी ही उन सभी सहूलियतों को छोड़कर अपनी उसी बस्ती खलासी लाईन लौट आयीं जहां उसका बचपन

गुज़रा था और जहां उसके सभी अपने रहते थे। बस्ती लौट कर उन दोनों ने एम्प्रेस मिल में मज़दूरी शुरू कर दी।

एम्प्रेस मिल एशिया की सबसे बड़ी कपड़ा मिल थी जिसमें हज़ारों दलित स्त्री-पुरुष मज़दूरी करते थे। उसी मिल की यूनियन की एक सदस्या थी आजी। उन दिनों एम्प्रेस मिल में सी.पी.आई. की यूनियन थी जिसे वह *लाल झंडेची यूनियन* कहा करती थीं। उस यूनियन से आजी को अपनापन नहीं लगता था। उन्हें लगता था कि दलित श्रमिकों की अपनी यूनियन होनी चाहिए। उसका नेतृत्व भी उनका अपना होना चाहिये तभी तो वह उनका दर्द समझेंगे। लाल झंडे की यूनियन का पूरा नेतृत्व सवर्णों के पास था जिसकी प्रतिबद्धता श्रमिक विकास के अलावा भी कुछ ऐसे मुद्दों के साथ थी जो राष्ट्रीय स्तर के थे।

एक शाम मिल से लौटती आजी ने डॉ. अम्बेडकर के आन्दोलन से जुड़े एक कार्यकर्ता की भाषण देते सुना जो शिक्षा के महत्व पर बात कर रहे थे। बेटियों को शिक्षित करना बेटे से भी ज़्यादा ज़रूरी है— उनकी इस बात को वह उस दिन गांठ बांधकर घर ले आयी। वह अनपढ़ है इसीलिए मज़दूरी करती है। यह उनका भाग्य नहीं, उनकी मजबूरी है। लेकिन उनकी सभी बेटियां पढ़ेंगी और बड़ी बनेंगी और सच में उनकी बेटियां उनकी उम्मीद से भी ज़्यादा पढ़ीं। शिक्षा के महत्व को उन्होंने अच्छी तरह समझा।

डॉ. अम्बेडकर ने उस वक्त देश के दलितों को शिक्षित बनने का जो नारा दिया उसका परिणाम कितना प्रभावी हुआ होगा यह मेरे परिवार को देख कर समझा जा सकता है। आजी बस्ती के बच्चों को भी पढ़ने के लिए प्रेरित करतीं। जब भी संभव होता दीये के लिए तेल देतीं। उस दीये की रोशनी से उस गरीब बस्ती में न जाने कितने बच्चे पढ़ाई करते थे। विश्व युद्ध के दौर में रात-दिन मज़दूरी से कमाये पैसे में उनके परिवार की गुज़र-बसर ही नहीं हो पाती थी फिर भी वह उन सभी बच्चों की मदद करती थीं जो आगे पढ़ना चाहते थे।

मेरी मां, कौशल्या बैसंतरी उस समय हाई स्कूल में पढ़ रही थीं जब 1942 में प्रथम दलित महिला अधिवेशन नागपुर में आयोजित करने का निर्णय लिया गया था। अन्य दलित महिलाओं के साथ-साथ मां को भी उस अधिवेशन का संगठन सदस्य नियुक्त किया गया। डॉ. अम्बेडकर उस अधिवेशन के प्रमुख अतिथि थे। यह जानकर कि डॉ. अम्बेडकर नागपुर आयेंगे बस्ती में सभी बहुत उत्साहित थे। मां और आजी दोनों ही बस्ती की अन्य महिलाओं के साथ अधिवेशन की तैयारी में जुट गयीं। बस्ती से सटे मोहन पार्क में अधिवेशन होने वाला था। घर-घर जाकर सभी महिलाओं को अधिवेशन की जानकारी देना जिसमें डॉ. अम्बेडकर के आन्दोलन और भारतीय समाज पर उसका प्रभाव, जातीयता व पर दलित महिलाओं की भूमिका, दलित स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्मिता, तलाक का निर्णय, दलित महिलाओं का नेतृत्व और राजनैतिक भागीदारी और दलित महिला संगठन की ज़रूरतों जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर बात की जाती थी।

उस समय *भारत छोड़ो आन्दोलन* की भी शुरूआत हो चुकी थी। सभी दलित स्वतंत्र भारत में दलितों की स्थिति को लेकर चिन्तित थे और उन्हें डॉ अम्बेडकर के नेतृत्व में अटूट आस्था थी। शायद इसीलिए यह अधिवेशन बहुत सफल रहा। 25000 दलित महिलाओं की भागीदारी ने डॉ. अम्बेडकर पर भी गहरा प्रभाव छोड़ा जिसे उन्होंने अपने एक मित्र को लिखे पत्र में स्वीकार किया। उस अधिवेशन में डॉ. अम्बेडकर के भाषण का मां और आजी पर इतना ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा कि दूसरे ही दिन उन्होंने अपने घर में रखी भगवान की सभी मूर्तियों को बस्ती के कुएं में डाल दिया। मां ने निर्णय लिया कि वह पढ़-लिख कर डॉ. अम्बेडकर के आन्दोलन को आगे बढ़ाएंगी। हिन्दू धर्म की जातिवादी मान्यताओं को अस्वीकार कर अपने परिवार में असमानता के विरूद्ध नयी सोच बनाने का काम करेंगी।

महिला अधिवेशन के लिए नागपुर आये डॉ. अम्बेडकर को उस समय ही यह सूचना मिली कि उन्हें वायसरॉय की काउन्सिल में श्रम सदस्य के रूप में शामिल किया गया है। यह खबर सभी दलितों के लिए बहुत बड़ी खुशी की बात थी। उम्मीद थी कि नया श्रम कानून उनके हित में होगा। इससे पहले भी 1928 और 1938 में डॉ. अम्बेडकर स्त्रियों के लिए प्रसूति के दौरान वेतन

सहित 21 दिनों की छुट्टियां और परिवार नियोजन के लिए बिल का बम्बई विधान सभा में समर्थन कर चुके थे।

इस अधिवेशन में मां की सक्रिय भूमिका के कारण ही उसे *अखिल भारतीय अनुसूचित जाति, जनजाति विद्यार्थी परिषद* का संयुक्त सचिव बनाया गया। डॉ. अम्बेडकर की अध्यक्षता में आयोजित प्रसिद्ध कानपुर अधिवेशन में वे आजी को भी साथ लेकर गयीं। जब उन्हें पता चला कि डॉ. अम्बेडकर कुछ दलित युवाओं को विदेश उच्च शिक्षा के लिये भेजने का प्रयास कर रहे हैं तब मां ने डॉ. अम्बेडकर से उनसे अनुरोध किया कि वह भी मान्टेसरी ट्रेनिंग के लिए विदेश जाना चाहती है। वापस आकर अपनी बस्ती के बच्चों को शिक्षित करने के लिए वे प्रतिबद्ध हैं। डॉ. अम्बेडकर ने उसी वक्त अपने हाथों से वायसरॉय को पत्र लिखकर मेरी मां को मौका देने की प्रार्थना की। बाद में उसे परीक्षा में शामिल होने का पत्र मिला। उसने परीक्षा भी दी लेकिन अंग्रेज़ी की जानकारी न होने के कारण वे उसमें सफल नहीं हो सकीं।

मेरी मां भले ही जीवन भर अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करती रहीं, कभी जीतीं, कभी हारी भी पर उसकी प्रतिबद्धता में कभी कमी नहीं आयी। जीवन भर वह अपने सरोकारों से जुड़ी रहीं। दिल्ली में पहली दलित महिलाओं की संस्था *भारतीय महिला जागृति परिषद* को 60 के दशक में ही स्थापित कर उसके तहत उन्होंने कई अविस्मरणीय कार्य किये। अपने जीवन के संघर्षों को अपनी आत्मकथा, *दोहरा अभिशाप* में लिखकर गुलाम भारत में दलित स्त्रियों की स्थिति और संघर्ष के हालात का चित्रण पहली बार हिन्दी साहित्य में किया। *दोहरा* अभिशाप को दलित महिला की प्रथम आत्मकथा होने का गौरव हासिल है। इस प्रभावी आत्मकथा ने कई दलित और गैर दलित युवाओं के संघर्ष को प्रेरणा और दिशा दी है।

सुजाता पारमिता *एक चित्रकार हैं।*

औरत

सुमन केशरी

रेगिस्तान की तपती रेत पर
अपनी चुनरी बिछा
उस पर लोटा भर पानी
और उसी पर रोटियां रख कर
हथेली से आंखों को छाया देते हुए
औरत ने
ऐन सूरज की नाक के नीचे
एक घर बना लिया।

मौसेरी बहनें

पवन करण

वैसे वे दोनों सगी बहनें हैं मगर उनके बीच हर समय
कुछ-न-कुछ घुटता देख मैं उन्हें मौसेरी बहनें कहता हूं।

कितनी मौसेरी हैं वे इस बात का अन्दाज़
इस तरह से लगाया जा सकता है कि वे नहीं रह सकतीं
बिना अपने-अपने मन की किए
और ये जानते हुए भी कि जो वे मन की कर रही हैं
वो अच्छी नहीं उतनी, इसके बाद भी
वे रह नहीं सकतीं उसे एक-दूसरे को बिना बताए।

जैसे एक को हो जाए कॉलेज से आने में कुछ देर
दूसरी समझ जाती है वह कहां होगी इस वक्त
दूसरी का दफ्तर से लौट आए भरा हुआ टिफिन वापस
तो वह भी ताड़ जाती है साहिबा ने कहां क्या खाया होगा
दरअसल वे एक-दूसरे के बारे में उतना ही जानती हैं
जितना हवा के बारे में हवा या पानी के बारे में पानी।

ठीक बात नहीं यह एक-दूसरी को समझाती हैं
मगर दूसरी देखती है कि वह भी उससे कुछ अलग नहीं
एक सी गलतियां करतीं, दोनों नहीं चाहतीं
उनमें से किसी से हो जाए कोई गलती बड़ी
एक-दूसरे को करते हुए सचेत
एक-दूसरे के बारे में करते हुए चिन्ता
अपनी-अपनी गलतियों के कवच में
माहा-कछुओं की तरह घुस जाती हैं वे।

वे एक-दूसरे से ही जान सकी हैं
ठोकरें कहां-कहां बिछी हैं रास्ते में
कहां-कहां चलना है उन्हें संभलकर
किसको दिखाना है ठेंगा तो किस के लिए
बचाकर रखना है अपना चुम्बन।

दरअसल उन्हें उपेक्षाओं ने मौसेरी बहनें बनाया है
निराशा ने बनाया है उन्हें एक-दूसरे के प्रति विश्वसनीय
एक-दूसरे के लिए दीवार की तरह डटकर खड़े हो जाना
उन्हें चाटने को लपलपाती जीभों ने सिखाया है।

वे जो गलतियां करती हैं और फिर उन्हें
एक-दूसरे को बता-बताकर हंसती हैं
वे गलतियां नहीं आज़ादियां हैं उनकी
छोटी-छोटी आज़ादियां जिन्हें सैंडिलों की तरह पहनकर
एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए बढ़ रही हैं वे आगे।

संवाद

सशस्त्र, सशक्त और सशक्तिकरण
-इरोम शर्मिला चानू

सुनीता ठाकुर

मणिपुर का मालोम क्षेत्र, 2 नवंबर, 2000 की सुबह, चौराहे पर गाड़ी का इंतज़ार कर रहे निहत्थे लोगों पर सशस्त्र बलों के जवान अंधाधुंध गोलीबारी करते हुए निकल जाते हैं। लोगों को कुछ समझ नहीं आता, उनकी निगाहें फर्राटे से निकल गई गाड़ियों के उड़ते धुंए का पीछा करती रह जाती हैं। सामने सड़क पर छटपटाते, बेजान शरीरों को देख हर किसी की सांस थम जाती है। पूरे क्षेत्र में सेना के इस कारनामे पर विद्रोह के सुर फुसफुसाने लगते हैं। दस साल पहले मणिपुर में घटी यह कोई पहली घटना नहीं है जिसमें इस तरह बेगुनाहों को मार गिराया गया हो।

अहिंसक आंदोलन व दृढ़ इच्छाशक्ति का प्रतीक शर्मिला

पूरे पूर्वोत्तर की तरह मणिपुर में भी *आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट* लगाया गया है। सरकार इस क्षेत्र में उग्रवाद को रोकने और शांति बहाल करने के लिए प्रतिबद्ध है। उनकी शिकायतों और समस्याओं पर बात किए बिना स्वदेशी सरकार, दमन की अंग्रेज़ी नीति अपनाकर गुलामी की त्रासदी बनाए है। लोगों का दुख इस बात से ज़्यादा है कि अपनी ही सरकार अपने ही देश की जनता की पुकार सुनना नहीं चाहती।

आम जनता पर दोतरफ़ा मार पड़ रही है। उग्रवादी अपनी मांगों को मनवाने के लिए आम जनता को शिकार बनाते हैं और सेना उग्रवादियों को सबक सिखाने के लिए किसी को भी अपना निशाना बना लेती है। सरकार विरोधी और सरकार समर्थित इन 'उग्र' हमलों की शिकार जनता अपनी ही ज़र-ज़मीन से बेदखल हो जाने और सुरक्षित जीवन की तलाश में क्षेत्र से पलायन करने पर मजबूर है। जनता, उग्रवाद और सेना-दो पाटों के बीच धुन की तरह पिस रही है। वहां लोग दमित हैं, शोषित हैं और अपमानित हैं। आज़ाद देश की सरकार के नाम पर छली जाती अपनी स्वाजीयता की त्रासदी को झेलने पर मजबूर।

अगर समस्या की जड़ में जाएं तो शर्मिला के साथ-साथ अधिकांश समाज सेवी मणिपुर सहित पूरे पूर्वोत्तर में लागू *आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट* को मूल कारण बताते हैं। यह अधिनियम पहली बार अंग्रेज़ों ने 1942 में भारत में लागू किया था। इस कानून द्वारा तत्कालीन जनद्रोह को दबाने के लिए सशस्त्र बलों को निरंकुश शक्तियां प्रदान की गई थीं। अंग्रेज़ चले गए, किंतु अंग्रेज़ी कानून के बहुत से प्रावधानों की भांति यह कानून सरकार के हाथों में रह गया। भारतीय संसद ने इस अधिनियम को 1990 में पास करके जम्मू-कश्मीर में लागू किया था। इसके बाद यह 1955 में असम और मणिपुर में इसे लागू किया गया। तब से आज तक तथाकथित 'डिस्टर्ब्ड एरियाज़' में शांति बहाली के नाम पर सरकार द्वारा यह कानून कई क्षेत्रों में लागू कर दिया गया है। यह कानून जर्मनी के फांसीवादी कानून की याद दिलाता है जो कानून एवं प्रशासन की आढ़ में नस्लवादी हिंसा का प्रतीक भर था।

मगर नागरिक और मानवाधिकारों की दृष्टि से हमारे देश में बहुत से दोहराव और कानूनी टकराव नज़र आते हैं। संविधान का अनुच्छेद 21 प्रावधान करता है कि "जीवन या निजी स्वतंत्रता पर हमला नहीं किया जा सकता।" मगर यह कानून सशस्त्र बलों को आम जनता के विरूद्ध वही दमनकारी निरंकुश ताकत देता है। 1980-2000 तक 157 बेगुनाहों की हत्या इस कानून की आढ़ में कर दी गई है, 18 जबरन गुमशुदगी के केस दर्ज किए गए हैं, 1974-2004 तक यहां 18 बलात्कार के दर्ज केस हैं। 83 लोगों के साथ यातना के मामले दर्ज हुए हैं, इन मामलों में सबूत मौजूद हैं, जबकि असंख्य लापता हाल मामले ऐसे हैं, जिन पर कोई सुनवाई या रिकॉर्ड नहीं मिलता।

2 नवंबर को, मालोम चौक पर 10 बेगुनाहों की हत्या ने हर मणिपुर निवासी को भीतर तक झकझोर दिया। उस समय शर्मिला के साथ-साथ मायरा पायबी और अपुंबालुप जैसे बहुत से संगठन और नेटवर्क उठ खड़े हुए थे। इस कानून के विरोध में इरोम शर्मिला चानू की भूख हड़ताल को ग्यारह साल पूरे हो रहे हैं।

परिवार में सबसे छोटी शर्मिला ने इंटर तक शिक्षा प्राप्त की और सामाजिक सरोकारों के प्रति अपने रुझान के तहत वे *ह्यूमन राइट्स अलर्ट* में वॉलंटीयर के रूप में जुड़ीं। एक माह तक प्रदेश की अनेक समस्याओं और मद्दों पर उन्होंने सक्रिय रूप से काम किया। शर्मिला द्वारा भूख हड़ताल का निर्णय अपनी ज़मीन के दर्द, और जन संस्कृति व समाज पर पूर्वोत्तर में लागू *आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट* के दुष्प्रभाव की गहन समझ से जन्मा है। उनकी बस एक ही शर्त है, मणिपुर में लागू *आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट* को हटाया जाए। शांति बहाली और उग्रवाद खत्म करने के नाम पर सेना के अत्याचार बंद किए जाएं।

शर्मिला की भूख हड़ताल तुड़वाने के लिए उन्हें कितनी ही बार जेल में नज़रबंद किया गया है, उन पर धारा 309 के तहत आत्महत्या के प्रयास का मामला दर्ज कर दिया जाता है। वे बंदी हैं, आज़ाद होते हुए भी आज़ाद नहीं हैं, कहीं अपनी मर्ज़ी से आ-जा नहीं सकतीं, किसी से मिल नहीं सकतीं। एक महिला जो निहायत शांतिपूर्ण तरीके से अपनी बात सरकार तक पहुंचाना चाहती है, उससे इस देश की सरकार और राजनीति को जाने क्या खतरा महसूस होता है कि जेल में जबरन नज़रबंद किये जाने, नाक में लगाई गई नली के मार्फ़त तरल पदार्थ दिये जाने, एकांत कारावास जैसे अनेक अमानवीय प्रतिबंध उन पर लगाए जाते रहे हैं। *मानवाधिकार आयोग, युनेस्को* ने इसे मानवाधिकार हनन का मामला बताकर सरकार की निंदा की है। ईरान की नोबेल शांति पुरस्कार विजेता, शिरीन इबादी कहती हैं- "सेना, लोगों के बचाव व सुरक्षा के लिए होती है, उसका जनता के ख़िलाफ़ कतई इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए।" मगर यह बात हमारी सरकार को समझ नहीं आती।

शर्मिला के अथक उपवास से देश की राजनीति बार-बार गरमाती रही है, लेकिन आज हमारे सामने बहुत से सवाल खड़े हैं। भारतीय राजनीति में सत्य-अहिंसा और बंदूक-बम की राजनीति के बीच सदा से संघर्ष रहा है। बंदूक की राजनीति लोगों में डर और आतंक पैदा करती है, लोग जीने के लिए उसके समक्ष हर समझौते को तैयार हो जाते हैं। विरोध करना चाहते हुए भी वे अपने असंतोष को दबाकर दूसरों को भी सब सहन करने के लिए मनाते, उकसाते और विवश करते हैं। इसीलिए शर्मिला जैसा कोई एक आम व्यक्ति जब सच्चाई और अहिंसा के लिए अपनी आवाज़ बुलंद करता है, तब वह आवाज़ इसी तरह कहीं अकेली नज़र आने लगती है। मुझे गांधी जी की याद आती है, वह एक समय था जब पूरा देश उनके उपवास की धमकी मात्र से थर्रा जाता था, सरकार की नींद उड़ जाती थी। मगर आज ग्यारह साल से उपवास पर बैठी शर्मिला के संघर्ष को जन चेतना के जिस सैलाब का इंतज़ार है, वह न जाने किस स्वार्थ, भय और हताशा के हिमखंडों में दफ़्न है। पहले भारतीय जन चेतना विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ़ हुंकार भरती थी, मगर वही जनचेतना अपनी ही हुकूमत के ख़िलाफ़ निष्क्रिय, हताश और बेजान नज़र आती है। ऐसे में शर्मिला की जन-हठ का क्या होगा?

मणिपुर समस्या के बहुत से पक्ष हैं, जिन्हें समझे बिना बात अधूरी रह जाएगी- *बेरोज़गारी का बढ़ना*- मणिपुर में किसी समय में धान की खेती बहुतायत से होती थी, इतनी कि वह धान का निर्यातक राज्य था, किंतु आज़ादी के बाद से

लगातार यहां के हालात बदतर होते गए हैं, आज यह राज्य अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए धान व कपास का आयात करता है। मणिपुर की जनता उपेक्षा का शिकार है। देश की विकास नीतियों में भौगोलिक साम्य का अभाव है। उग्रवाद के बढ़ने के साथ-साथ यहां लगातार लोगों की रोजी-रोटी पर असर पड़ा है। राज्य से युवा शक्ति का पलायन, सशस्त्र बलों के अत्याचार और सरकार द्वारा विकास परियोजनाओं के नाम पर लोगों की ज़मीने हड़पे जाने से खेती में आत्मनिर्भर यह राज्य बेरोज़गारी का शिकार होकर रह गया है। खनिज तत्वों के भंडार इस राज्य के संसाधनों को दोहन जिस गति से हो रहा है, उतनी गंभीरता से यहां के लोगों की ज़रूरतों को नकारा जा रहा है।

गुज़र बसर के साथ अस्मिता का प्रश्न- मणिपुर अनेकों जनजातियों और समुदायों का प्रदेश है, विकास के नाम पर पैदा किए गए ज़मीनी संकट से लोगों के रोज़गार ही नहीं उनकी अस्मिता और संस्कृति का भी संकट उत्पन्न हो गया है। मणिपुर के जाने-माने समाजकर्मी नोबोकिशोर कहते हैं- "शोषण को और तेज़ करने के लिए भारतीय राज्य मणिपुर पर कब्ज़ा बनाए हुए हैं।... लोगों की भूमि व संसाधनों पर कब्ज़ा जमाया जा रहा है- बंदूक के बल पर लोगों को जबरन चुप कराया जा रहा है।"

केंद्र शासन के इस भेदभावपूर्ण नीतियों और रवैये के प्रति मणिपुर में लगातार जन-द्रोह बढ़ता गया है जिसे आज उग्रवाद का नाम दिया जा रहा है। शर्मिला कहती हैं- "मेरे पास न तो आर्थिक साधन हैं और न हीं राजनीतिक सत्ता है। मेरे पास केवल मेरा शरीर है।" लिहाज़ा वे अपना शरीर होम करके मणिपुर के असंतुलित विकास और उससे उत्पन्न जन असंतोष की ओर दुनिया का ध्यान खींच रही हैं।

मणिपुर के हालातों पर सरकार और राजनेताओं का कोई सरोकार नज़र न आने के साथ-साथ क्षेत्रीय उदासीनता और जनचेतना का अभाव साफ़ नज़र आता है। अखंड भारत की जनता में भारतीयता की एकजुट सोच नज़र नहीं आती। इस देश में सशस्त्र सेनाओं के अत्याचार के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद करने वाली शर्मिला अलग-थलग क्यों पड़ जाती हैं? क्या भारतीय जनता अपनी ही सुरक्षा के प्रति उदासीन हो चुकी है? क्या हम सुरक्षा की गारंटी के नाम पर हर अत्याचार को लाज़िमी मानने लगे हैं?

अगर इतिहास पर नज़र डालें तो देश में जहां-जहां *आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट* लागू किया गया है, वहां-वहां इस तरह के जन असंतोष और विद्रोह जन्मे हैं। तो क्या यह किसी लोकतांत्रिक सरकार के लिए विचार का एक विषय नहीं होना चाहिए कि सुरक्षा और शांति बहाली के नाम पर सशस्त्र बल जनता के अधिकारों का हनन और लोकतंत्र के रक्षक संवैधानिक प्रावधानों का उल्लंघन न करें? क्या निरंकुशता से मुक्त होकर सुरक्षा और शांति बहाली का कोई रास्ता हम नहीं सुझा सकते? क्या इस तरह के अधिनियमों के द्वारा अततः हम सैन्यवाद के समक्ष घुटने तो नहीं टेक रहे? क्या सैन्य निरंकुशता, जन-खुशहाली और संतोष से बढ़कर हो सकती है? क्या राष्ट्र की सरुक्षा, एकता और अखंडता महज सैनिक दुराग्रह की बिसात पर कायम की जा सकती है? क्या दमन की राजनीति देश के लोकतांत्रिक और मानववादी चेहरे का गौरव बनाए रख सकती है? और सबसे बड़ी बात क्या लोकतंत्र की नींव स्वरूप जनचेतना को बहुत लंबे समय तक दबाया जा सकता है?

देश में लगातार बढ़ते सशस्त्र विद्रोहों की जड़ को समझने बिना इन समस्याओं का हल नहीं निकाला जा सकता। ये सशस्त्र विद्रोह दबाए जा सकते हैं पर खत्म नहीं किए जा सकते, क्योंकि उन्हें जन असंतोष का समर्थन प्राप्त है। वही जन असंतोष जो सरकारी ताकत के समक्ष प्राण रक्षा के लिए मौन तो नज़र आता है, पर अपनी मुक्ति का उपाय भी चाहता है। जब-जब किसी देश की शासन सत्ता, उसकी प्रशासनिक नीतियों, राजनीति जनेच्छा से दूर होती है, तब-तब सशस्त्र विद्रोह जन्म लेते हैं, और राष्ट्र-सत्ता, अखंडता और एकता को खतरा पैदा होता है। ज़रूरत इस बात की है कि देश की राजनीति निजी स्वार्थ, संकीर्ण सोच और हठधर्मिता से ऊपर उठकर उन मानवीय मूल्यों, आदर्शों और कर्तव्यों का पाठ दोहराए, जो संविधान द्वारा रचे गए हैं। तब जाकर शायद किसी शर्मिला को यों सालों भूख-हड़ताल में होम न होना पड़ेगा।

सुनीता ठाकुर *जागोरी में कार्यरत हैं।*

लेख

सशक्त इरादे-मन में विश्वास
-मेरी कॉम

जुही

"मुझे आज भी याद हैं अपने पिता की कठोर हिदायत— इस टूटे-कटे, चोट-खाए चेहरे को लेकर कभी भी तुम शादी करने की उम्मीद मत करना।" ये शब्द कांगठेई गांव, मणिपुर की चैम्पियन मुक्केबाज़ी मांगते चुंगनेइजंग मेरी कॉम उर्फ़ एमसी मेरी कॉम के हैं। सन् 2000 में मेरी ने मुक्केबाज़ी की दुनिया में अपना पहला क़दम रखा। इस पुरुषों के अधिपत्य वाले खेल में उनकी दिलचस्पी उन्हीं के क्षेत्र के पुरुष मुक्केबाज़ दिंगको सिंह से प्रेरित है।

मेरी कॉम एक मध्यमवर्गीय परिवार में पली-बढ़ी हैं। अपने परिवार की आर्थिक मदद करने के इरादे से उन्होंने खेलकूद को अपनाया। शुरूआत में मेरी कॉम लगभग सभी व्यायामों में हिस्सा लेती थीं परन्तु 400 मीटर दौड़ और भाला फेंकने में उनकी विशेष रुचि थी। बैंगकॉक में दिंगको सिंह ने जब मुक्केबाज़ी में स्वर्ण पदक जीता तो मणिपुर में जैसे एक आंदोलन आ गया। अनेकों युवा लड़के व लड़कियां खेलकूद में शामिल होने लगे। मेरी कॉम का रूझान भी मुक्केबाज़ी की ओर हो चला। वे कहती हैं, "मैने सोचा कोशिश करके देखती हूं। लगभग दो हफ़्तों में मैंने मुक्केबाज़ी से जुड़े बुनियादी गुर सीख लिये थे। शायद इस दुनिया में आने के लिए भगवान ने मुझे कोई विशेष हुनर दिया था।"

पहले पहल मेरी कॉम ने मुक्केबाज़ी का शौक अपने घरवालों से छुपाकर रखा। परन्तु जब सन् 2000 में उन्होंने राज्य की चैम्पियनशिप जीती तब अखबारों में छपे फ़ोटो ने उनका पर्दाफाश कर दिया। घरवालों की नाराज़गी इस बात से थी कि मुक्केबाज़ी को औरतों का खेल नहीं समझा जाता है। मणिपुरी समाज में औरतों का इस क्षेत्र में जाना वर्जित है। पर उनके चचेरे भाई-बहनों ने मिलजुलकर उनके माता-पिता को मना लिया।

अपना पहला सम्मान जीतने के बाद मेरी कॉम ने फर्स्ट स्टेट लेवल इंवीटेशन महिला चैम्पियनशिप, सेविन्थ ईस्ट इण्डिया विमेंस बॉक्सिंग चैम्पियनशिप-बंगाल भी जीती। सन् 2005 तक आते-आते उन्होंने पांच राष्ट्रीय चैम्पियनशिप भी हासिल कर लीं थीं।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी मेरी कॉम ने अनेकों सम्मान और स्वर्णपदक जीतकर अपने देश का नाम महिला मुक्केबाज़ी के क्षेत्र में रोशन किया है।

प्रेस कांफ़्रेस में बोलती मेरी कॉम

हिसार में द्वितीय एशियाई महिला चैम्पियनशिप और ताइवान में तृतीय एशियाई महिला चैम्पियनशिप जीतने के बाद मेरी कॉम के जीवन में जैसे स्वर्ण पदकों की बौछार ही लग गई।

सन् 2001 में तुर्की महिला मुक्केबाज़ हुल्या सहिन से हार जाने के बाद मेरी कॉम कुछ निराश सी हो गई। जी तोड़ मेहनत रंग लाई और अगले ही साल तुर्की में हुई द्वितीय

आइबा वर्ल्ड विमेंस सीनियर बॉक्सिंग चैम्पियनशिप में यूक्रेन और उत्तरी कोरिया की महिला मुक्केबाज़ों को हराकर उन्होंने स्वर्ण पदक जीते।

भारतीय सरकार ने सन् 2003 में मेरी कॉम को अर्जुन सम्मान प्रदान किया। मुक्केबाज़ी में देश का नाम आगे ले जाने के लिए यह सम्मान पाने वाली वह पहली भारतीय महिला बनीं।

सन् 2004 के बाद मेरी कॉम ने नॉर्वे की विश्व महिला चैम्पियनशिप, हंगरी में विच कप टूर्नामेंट (2004) एशियाई महिला बॉक्सिंग चैम्पियनशिप, फिलीपीन्स, रूस में तृतीय आइबा विमेंस वर्ल्ड चैम्पियनशिप्स, वीनस बॉक्स कप डेनमार्क (2006) आदि अनेकों खिताब जीते।

मेरी कॉम बताती हैं कि रूस की महिला मुक्केबाज़ों से जीतना उन्हें काफ़ी अच्छा लगा। उनकी तारीफ़ करते हुए पर उन्हें वह कहती है- "वे सब कितनी फिट हैं— सुडौल मांस पेशी वालीं।" इसके साथ ही वह जोड़ती हैं— "हमारी टीम ने बहुत मेहनत की थी। अपनी ज़मीन पर उनसे जीतने का सुख ही कुछ और है।"

किसी भी विश्व स्तरीय चैम्पियन की तरह मेरी कॉम का सपना है कि वह भारत का प्रतिनिधित्व ओलम्पिक खेलों में कर पायें। इसके लिये वह कड़ी मेहनत भी कर रही हैं। दिन में पांच से छः घंटे वह व्यायाम और प्रैक्टिस करती हैं। रिंग में अपनी रणनीति के तहत वह प्रतिद्वंदी को खूब भगाती हैं जिससे वह थक जाये। वह कहती हैं "शारीरिक बल व तकनीक के साथ-साथ मैं अपनी मानसिक शक्ति पर भी निर्भर करती हूं। अपनी कड़ी मेहनत और दृढ़ता की वजह से मैं खुद को इस क्षेत्र में स्थापित कर पाई हूं।"

मेरी कॉम की सफलता उनके दृढ़ निश्चय, काबलियत और इच्छा शक्ति का प्रतीक है। मुक्केबाज़ी से हुई कमाई से उन्होंने अपना घर और ज़मीन खरीदी है। कुछ पैसे बचाकर वह अपने भाई-बहनों की अच्छी देखभाल भी करना चाहती हैं।

"एक सफ़ल मुक्केबाज़ बनने के लिए एक मज़बूत दिल चाहिए। कुछ औरतें शारीरिक रूप से ताकतवर होती हैं पर उनका दिल कमज़ोर होता है। पर हम पुरुषों से ज़्यादा मेहनत करते हैं और अपनी पूरी शक्ति लगाकर अपने देश को गौरवान्वित करते हैं। भगवान ने मुझे काबलियत दी है पर इरादों की मज़बूती से आज मैं इस मुकाम तक पहुंची हूं।"

मेरी कॉम के यही विचार उनकी जैसी तमाम लड़कियों को प्रेरित करते हैं जिनमें आगे बढ़ने की लगन है।

जुही जैन, *नारीवादी कार्यकर्ता व लेखिका हैं।*

आइबा विमेंस वर्ल्ड चैम्पियनशिप

लेख

होमाई व्यारावाला द्वारा खींची गई- सलामी लेते हुए लॉर्ड माउंटबेटन की फोटो

न जाने मैं कौन सी मिट्टी की बनी हूं
- होमाई व्यारावाला

श्रेया-निमिषा

"यह उस ज़माने की बात है जब कैमरे के वज़न, उसके टंग्स्टन बल्ब और उसकी कारीगरी में इंसान फंस जाता था। एक बटन और फ़ोटो हज़ार वाली तकनीक कल्पना के बाहर थी।"

उस वक्त स्वतंत्रता संग्राम का जोश पूरे भारत में फैला हुआ था और ऐसे माहौल का ऐतिहासिक दस्तावेज़ीकरण करने वाली एकमात्र महिला छायाकार थीं —होमाई व्यारावाला।

आज होमाईबेन अट्ठानवे वर्ष की हैं। चेहरे पर असंख्य झुर्रियों और कम सुनाई-दिखाई देने के अलावा वृद्धावस्था के कोई चिन्ह स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ते। इसका रहस्य है उनका स्वाभिमान और स्वावलंबन से बिताया जीवन। वे कहती हैं, "यह जीवन ही मेरी एकमात्र पूंजी है। आज भी मैं पूरे घर का काम अपने हाथों से करती हूं। छियानवे साल की उम्र तक मैं गाड़ी भी चलाती थी। पर पिछले तीन साल से मुश्किल हो रही है। इसका मुझे बेहद अफ़सोस है।"

होमाईबेन एक पारसी हैं— यह उनकी बोली और पहनावे से झलकता है। उनके घर का प्रत्येक कोना उनकी कलात्मकता का प्रतीक है। घर की पहली मंज़िल पर एक छोटा सा बगीचा है। अपने तमाम पौधों की देखभाल वे स्वयं करती हैं। पौधों के बारे में उनका ज्ञान और लगाव प्रकृति के साथ उनके गहरे संबंध को दर्शाता है।

आज भी अपने घर की साफ़-सफ़ाई, खाना पकाना, कपड़ों की सिलाई के अलावा बिजली व नल सुधारने जैसे तकनीकी काम भी वे खुद करना पंसद करती हैं। उनका

मानना है कि केवल उनका शरीर बूढ़ा हुआ है दिल और आत्मा अभी भी जवान है।

नई तकनीक अपनाने में भी होमाईबेन को ज़रा भी तकलीफ़ नहीं हुई। आज हम अपने आसपास देखते हैं कि पचास-साठ वर्ष की औरतें भी मोबाइल व कम्प्यूटर इस्तेमाल करने में हिचकिचाती हैं। परन्तु होमाईबेन ने सहजता से सब कुछ अपना लिया है।

होमाई व्यारावाला का जन्म नवसारी, गुजरात में सन 1913 में हुआ था। पिता डोसाभाई कलाकार थे और नाटकों में स्त्री किरदार निभाते थे। होमाईबेन भी कलाकार बनना चाहती थीं परन्तु अभिनय क्षेत्र में औरतों का जाना वर्जित था। अपने माता-पिता के साथ वे जगह-जगह घूमती हुई पलीं। पिता के अस्थाई रंगमंच के जीवन के कारण परिवार को आर्थिक मुसीबतों का सामना करना पड़ता था। इसलिए उनकी मां ने बच्चों के साथ मुंबई में रहना शुरू कर दिया। पारसी लोगों को खाना खिलाकर तथा उनके कपड़ों की सिलाई से घर का खर्चा चलता। होमाईबेन की माता अनपढ़ थीं परन्तु उन्होंने अपने बच्चों को खूब पढ़ाने-लिखाने का मन बना रखा था। ग्रांट रोड की माध्यमिक पाठशाला में उनकी शिक्षा हुई। पाठशाला के प्रधानाचार्य की मदद से होमाई ने ट्यूशन करके घर के खर्चे में मदद करनी शुरू की। माता ने घर का खर्च पूरा करने के लिए पेंइग गेस्ट भी रखने शुरू कर दिये। अस्थाई जीवन शैली के कारण उनके पिता की तबियत खराब रहने लगी थी। होमाई के सत्रह वर्ष की होने पर पिता की मृत्यु हो गई। वे अपनी बेटी को भारत की सर्वप्रथम महिला छायाकार बनते नहीं देख पाए।

होमाई हर काम में अपनी माता की मदद करती थीं। उन्होंने कभी नहीं सोचा कि वे एक महिला हैं इसलिए वह किसी से कम हैं। पढ़ाई के दौरान ही होमाई की दोस्ती माणिकशाह व्यारावाला से हुई। दोनों की दोस्ती गहराती गई और फ़ोटोग्राफ़ी का शौक उन्हें और करीब ले आया। वे रेलवे स्टेशन पर मिलते और जगह-जगह तस्वीरें खींचने के लिये घूमते। माणिकशाह ने अपने घर के स्नानागार में "डार्करूम" बना रखा था। इस कमरे में होमाई फ़ोटो को प्रिन्ट करती थीं। दोनों के पास एक ही कैमरा था। पहचान के लिए होमाई अपनी खींची हुई फ़ोटो के फ्रेम में अपनी शक्ल भी लगा देती थी। परन्तु फ़ोटो माणिकशाह के नाम से ही छपते थे।

इसी तरह फ़ोटो खींचते-खींचते होमाईबेन ने जे.जे. स्कूल ऑफ़ आर्टस से स्नातक की पढ़ाई पूरी की। होमाईबेन को फ़ोटोग्राफ़ी में खास दिलचस्पी तो थी ही, इस विद्या में उनकी समझ भी अद्‌भुत थी। वे विभिन्न पत्रिकाओं में छपी तस्वीरों से भी फ़ोटोग्राफ़ी की रचना पर अपना ज्ञान बढ़ाने का प्रयास करतीं। 1940 तक आते-आते उन्होंने सही मायने में फ़ोटोग्राफ़ी की शुरुआत की। *बाम्बे क्रानिकल* अखबार में उनके फ़ोटो पहली बार उनके अपने नाम से छपने लगे।

1941 में माणिकशाह और होमाईबेन ने विवाह कर लिया। इसी बीच विश्व युद्ध के दौरान उन्हें आवश्यक सेवाओं का ब्रोशर बनाने का काम मिला। इस ब्रोशर पर उन्होंने जी-तोड़ मेहनत की जिसके फलस्वरूप उन्हें व माणिकशाह को *हाईकमीशन ऑफ़ ईस्टर्न ब्यूरो* में छायाकार की नौकरी मिल गई। पति-पत्नी दोनों नौकरी के चलते दिल्ली रहने लगे। माणिकशाह का ज़्यादा समय डार्करूम और तकनीकी काम में गुज़रता। इसलिये फ़ोटो खींचने की पूरी ज़िम्मेदारी होमाईबेन ने संभाल ली। देश की आज़ादी के संघर्ष को चित्रांकन करने का काम वे दिन-रात लगन से करती थीं। जब साथी पुरुष उनकी तारीफ़ करते तो हंसते-हंसते कहतीं, 'अगर मेरा काम आपको इतना सुंदर लगता है तो आप अपनी पत्नी और बेटी को भी छायाकार बनने के लिए प्रेरित क्यों नहीं करते?'

पर कई पुरुषों के लिए होमाईबेन को बतौर छायाकार स्वीकारने में तकलीफ़ होने लगी थी। एक बार भारत सरकार ने युद्धकाल के दौरान फ़ोटो खींचने का काम होमाईबेन को सौंपा और फ़िल्म बनाने की ज़िम्मेवारी एक प्रसिद्ध फ़िल्म निर्देशक को दी। छोटे कद वाली महिला छायाकार को देखकर निर्देशक महोदय ने उनका मज़ाक उड़ाने वाले अंदाज़ में कहा, 'ये कैमरे वाली बहन अपना शौक पूरा करने यहां आई है क्या?' दूसरे दिन होमाईबेन के खींचे फ़ोटो अखबार में छप गये और सभी ने उनके काम की सराहना की। निर्देशक साहब ने अपना काम पूरा नहीं किया और साथ ही घोषणा की कि वे उस प्रोजेक्ट में काम नहीं करेंगे जिसमें होमाईबेन होंगी। उस दौर में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नाम कमाने वाली पहली फ़ोटो-जर्नलिस्ट होमाईबेन बनीं।

युवा होमाई व्यारावाला

होमाईबेन मानती हैं कि वे किसी भी परिस्थिति, समय, जगह, काम के लिए जाने को सदैव तैयार रहती थीं। शुरू-शुरू में, अलग-अलग कोणों से तस्वीर खींचने के लिए साड़ी पहनकर दीवार पर चढ़ना बहुत मुश्किल होता था। बाद में उन्हें इसकी आदत पड़ गई। वे कहती हैं कि उन्हें कभी भी अपना कर्तव्य पूरा करने में औरत होने के कारण कोई संकोच नहीं हुआ। काम को उन्होंने बस काम की तरह देखा।

अपने पति को याद करते हुए होमाईबेन बताती हैं कि वे सही मायने में उनके जीवन साथी थे। दोनों के बीच सहज सामंजस्य था। "हम दोनों को अंग्रेज़ी फ़िल्में देखने का शौक था। बच्चों की देखभाल के कारण हम एक साथ नहीं जा पाते थे। दोनों अलग-अलग फ़िल्म देखते थे। ऐसा देखकर सबको लगता था कि हम दोनों के बीच अनबन है।"

एक घटना का ज़िक्र करते हुए होमाईबेन बताती हैं कि एक ब्रोशर तैयार करने के लिये हमें मृत शरीर के फ़ोटो लेने थे। जब माणिकशाह प्रयोगशाला में पहुंचे तो कटे हुए शरीरों को देखकर वे सन्न रह गये। तब होमाईबेन ने उन्हें बाहर बैठाकर खुद यह काम पूरा किया। वे कहती हैं कि अपनी भावनाओं को वे अपने काम से अलग रखती थीं।

पैंतालीस वर्ष की उम्र में उन्होंने माणिकशाह की मृत्यु के सदमे को पूरी गरिमा के साथ झेला। बीमार पति की सेवा करते हुए वे प्रार्थना करती थीं कि उनको यातना विहीन मृत्यु मिले। "मैं नहीं चाहती थी कि वे एक अपाहिज सा जीवन गुज़ारे। उनकी आखों का दर्द देखकर ही मैंने ऐसी प्रार्थना की।"

1971 में होमाईबेन ने फ़ोटोग्राफ़ी छोड़ दी। फिर उन्होंने अपने अन्य शौक पूरे किये— सिलाई-कढ़ाई-बागवानी, किताबें पढ़ना आदि। अपने बेटे फारुख की कैंसर से मृत्यु को भी उन्होंने सहजता से स्वीकारा। उन्होंने अपनी बहू को भी समझाया कि दुःखी न हो बल्कि अपने भविष्य के बारे में सोचे। अगर कोई अच्छा साथी मिले तो दोबारा नया जीवन शुरू करे।

होमाईबेन परिस्थिति और भावनाओं को बिना मिलावट अलग-अलग देख सकती हैं। परिस्थिति को एक तस्वीर की तरह अपने जीवन में ढाल लेती हैं। पूछने पर कि इस उम्र में वे इतनी निश्चिंत, इतनी स्वावलंबी कैसे रह पाती हैं? वे कौन सी मिट्टी की बनी है? उनका जवाब है -"मालूम नहीं। शायद मैं हवा या फिर पानी की बनी हूं। कोई भी आकार ले लेती हूं। कब और कहां चल बसूंगी मुझे भी पता नहीं है। जब तक ज़िंदा हूं भरपूर जीवन जीऊंगी।"

मूल गुज़राती से अनुवादः विभूति पटेल

श्रेया *व* ***निमिषा*** *ओढ़ख, गुजरात में कार्यरत हैं।*

अलविदा होमाईबेनः हमें बेहद दुःख है कि इस अंक के छपते-छपते होमाईबेन ने हमारा साथ छोड़ दिया। 15 जनवरी 2012, रविवार की सुबह सांस की तकलीफ के कारण उनका वडोदरा में देहान्त हो गया। होमाईबेन की प्रेरणादायक शख्सियत को हमारी भावभीनी श्रद्धांजलि।

आमने-सामने

मेरे आसमान में चमकता सितारा
डॉ. कल्पना चावला

अमृता नंदी-जोशी

"अपनी ज़िन्दगी में मैंने अन्वेषकों...उनकी दृढ़ता से प्रेरणा पाई है। मेरे लिए उन लोगों से प्रेरणा लेना आसान होता है जो कुछ कर गुज़रते हैं..."

कल्पना के बचपन की फ़ोटो

ये अल्फाज़ डॉ. कल्पना के हैं— अंतरिक्ष में क़दम रखने वाली पहली भारतीय अमरीकी महिला अंतरिक्ष यात्री। मेरे लिए इन शब्दों का खास महत्व है। मेरे लिए कल्पना एक मिसाल है— उसकी दृढ़ता की मैं कायल हूं। उनकी कहानी मुझे प्रेरणा देती है। उन्होंने वो सब हासिल किया जिसका उन्होंने ख्वाब देखा था। संक्षेप में वह स्वयं अपनी कल्पना हैं।

हरियाणा के छोटे से गांव से अंतरिक्ष तक कल्पना चावला की यात्रा वास्तविक और लाक्षणिक दोनों तरह से लम्बी और अदभुत रही है। कल्पना कहती थी, "यह सब कुछ इस वजह से संभव हो पाया है-मैंने अपनी पढ़ाई या कुछ भी अन्य काम करते समय यह नहीं सोचा कि मैं एक औरत हूं या फिर किसी छोटे शहर या अन्य देश की वासी हूं।"

कल्पना सबसे अलग थीं। वाशिंगटन पोस्ट के लिए साक्षात्कार के दौरान उनकी मां ने बताया था कि उनके चारों बच्चों में सबसे छोटी थी कल्पना। वे अपने बाल खुद काटती थी- कभी भी प्रेस किए कपड़े नहीं पहनती थी और कराटे सीखने जाती थी। हालांकि वे एक लड़की की तरह नहीं बल्कि एक इंसान की तरह रहना पसंद करती थी फिर भी उनका स्त्री होना उनके चाहतों के रास्ते में रुकावट पैदा करता था। पर कल्पना संघर्ष करके अपने रास्ते के अवरोधों को हटाकर आगे बढ़ती चली गईं।

करनाल के स्कूली जीवन के दौरान कल्पना अपने भाई के साथ स्थानीय फ्लाईंग क्लब तक साइकिल से जाती थीं। छोटे-छोटे हवाई जहाज़ों के उड़ान भरते-उतरने देखना उन्हें अच्छा लगता था। कल्पना ने अपने पिता से आग्रह करके एक बार एक छोटे हवाई जहाज़ में उड़ान भी भरी थी। 1976 में कल्पना ने टगौर बाल निकेतन सीनियर सेकंडरी स्कूल में अच्छे अंक हासिल कर पहले पांच विद्यार्थियों में अपना नाम दर्ज करा लिया।

जब उन्होंने अपने पिता से वैमानिकी की पढ़ाई करने की इच्छा ज़ाहिर की तो पिता ने समझाना चाहा कि वे डाक्टरी या शिक्षिका जैसे "इज़्ज़तदार व्यवसाय" पर ध्यान केंद्रित करें। पिता और एक अन्य पुरुष प्रोफेसर के यह कहने के बावजूद कि इंजीनियरिंग एक औरताना पेशा नहीं हो सकता कल्पना ने अपने दिल की बात मानी और 1982 में पंजाब इंजीनियरिंग कॉलेज से वैमानिकी की पढ़ाई पूरी की। उनके पिता को अब भी उम्मीद थी कि कल्पना उनके टायर बनाने के बिजनेस में उनका साथ देंगी। कालेज में अव्वल आने के कारण उन्हें वहां पढ़ाने का न्यौता मिला। साथ ही टेक्सस विश्वविद्यालय में वैमानिकी इंजीनियरिंग की उच्च स्नातकोत्तर शिक्षा हासिल करने के लिए भी उनका चुनाव कर लिया गया। कल्पना आगे पढ़ना चाहती थीं, पिता की बात मानते हुए उन्होंने भारत में रहने का मन भी बना लिया था। परन्तु दाखिले की अंतिम तारीख आते-आते उन्होंने अपने पिता को मना ही लिया।

आगे की दास्तान तो ऐतिहासिक ही है। 1984 में स्नातकोत्तर और डाक्टर की उपाधि पाने के लिए कोलाराडो

विश्वविद्यालय में दाखिला मिला। उसी वर्ष उन्होंने जीन पियर हैरिसन के साथ विवाह कर लिया जिनसे वह अमरीका में मिली थीं। हैरिसन उड़ान प्रशिक्षक थे जिन्होंने कल्पना को लम्बी उड़ानों और स्कूबा डाइविंग से परिचित कराया था। कल्पना ने अपने भाई की मदद से परिवार को शादी के लिए तैयार किया।

पहली उड़ान भरने के लिए स्पेस सूट में तैयार कल्पना

1988 तक कल्पना ने पीएचडी पूरी कर ली थी और *नासा एमिस रिसर्च सेंटर* में काम शुरू कर दिया था। यहां पर वे अंतरिक्षयानों के आसपास कृत्रिम हवा के बहाव को उत्तेजित करने वाले कारकों पर शोध कर रहीं थीं। उनकी अगली परियोजना *लॉस गेटॉस सिलीकॉन वैली* में थी जहां वे बतौर उप-राष्ट्रपति व शोध वैज्ञानिक चलित व बहुल खपिण्ड की उत्तेजना पर अध्ययन करने वाली विशेष टीम का हिस्सा थीं। कल्पना का काम था वायुगति के संचालन को अनुकूल बनाने वाली कुशल तकनीकों का विकास व कार्यान्वयन। इस कार्यक्षेत्र में हासिल उनकी सफलताओं व परिणामों को अनेक सम्मेलनों व व्यावसायिक जर्नलों में प्रकाशित किया गया।

कल्पना व उनके चाहने वालों के आश्चर्य की सीमा न रही जब दिसम्बर 1994 में उन्हें नासा के अंतरिक्ष यात्री कार्यक्रम के लिए टेकसस के *जॉनसन स्पेस सेंटर* बुलाया गया। पांच फीट और नब्बे पौंड वज़न वाली कल्पना चावला के लिए पिट्स X2-बी वायुयान के पेडल तक अपने पैर पहुंचना भी मुश्किल था। इसके अलावा अंतरिक्ष यात्रियों द्वारा पहने जाने वाले सफेद स्पेससूट केवल मीडियम व बड़े माप के बनते थे- कल्पना को ये फिट नहीं बैठते थे। खैर उसे वायुयान के भीतर की ज़िम्मेदारियां सौपी गई।

पहले साल के प्रशिक्षण व मूल्यांकन के बाद कल्पना को क्रू-प्रतिनिधि की भूमिका सौंप दी गई। यहां उनका काम था 'ऐसट्रानॉट आफ़िस ईवीए/रोबोटिक सिचुएशनल अवैरनैस डिस्प्ले' की तकनीकी बारीकियों पर काम करना जिसमें अंतरिक्षयान नियंत्रण सॉफ्टवेयर 'शटिल एवियौनिक्स इंटीग्रेशन प्रयोगशाला' में जांच करना भी शामिल था। अपनी मेहनत के कारण 1996 में उन्हें मिशन विशेषज्ञ व एटीएस-8-7 का प्रमुख रोबोटिक आर्म ऑपरेटर चुन लिया गया। यह कल्पना की अंतरिक्ष की पहली उड़ान थी, तारीख थी 19 नवम्बर 1997। परीक्षणों के अध्ययन का प्रमुख केंद्र था अंतरिक्ष के भारहीन पर्यावरण का भौतिक प्रक्रियाओं व सूरज के बाहरी वायुमंडल पर प्रभाव। 5 दिसम्बर को पृथ्वी पर वापस लौटने से पहले वायुयान ने 252 परिक्रमाएं लगाईं और 376 घंटे व 34 मिनट में साढ़े छः अरब मील का सफ़र तय किया था।

2003 में कल्पना एसटीएस-107 कोलम्बिया वायुयान की 16 जनवरी को होने वाली सोलह दिवसीय उड़ान भरने के लिए उत्साहित थीं। चौबीस घंटे रोज़ काम करने के बाद इस टीम ने अस्सी सफल प्रशिक्षण किए। अंतरिक्ष से अपने एक दोस्त को भेजे गए ईमेल में कल्पना ने लिखा था- "इसे एक बार फिर से कर पाना सपने की तरह लग रहा है- एक बेहतरीन सपने की तरह।"

और जैसा कि हम सभी जानते है यह मिशन फरवरी 1, 2003 को समाप्त हुआ जब कोलम्बिया वायुयान धरती के वायुमंडल में प्रवेश करते समय दुर्घटनाग्रस्त हो गया। उतरने से सिर्फ़ सोलह मिनट पहले हुई इस त्रासदी ने वायुयान में मौजूद सातों वैज्ञानिकों की जान ले ली जिनमें कल्पना चावला भी थीं।

अपने दोस्तों व साथियों के बीच के. सी. कहलाई जाने वाली कल्पना का नाम एक ग्रहिका को दिया गया है। उन्हें मरणोपरान्त *नासा स्पेस फ्लाइट मेडल, नासा विशेष सेवा पदक तथा कौग्रेसनल स्पेस मेडल ऑफ़ ऑनर* प्रदान किए गए हैं। इसके अलावा कल्पना के पद चिन्हों पर हज़ारों युवा लड़कियां चलना चाहती हैं जो सही मायने में उनके लिए एक सच्ची श्रद्धांजलि है।

अमृता नंदी-जोशी *एक नारीवादी कार्यकर्ता हैं।*

औरतज़ात

उर्मिला पवार

वकील साहब को कोर्ट के बरामदे में आता देख मैं और सदाशिव उठकर उनके पास चले गये।

"सबूत लाये हो?" वकील साहब ने पूछा।

"ना" में गर्दन हिलाते हुए सदाशिव ने कहा, "मैंने कोशिश की, लेकिन कोई कुछ कहने के लिए तैयार नहीं है। जिस पुरोहित ने शादी करवायी, वह भी बात टाल गया।" वकील साहब ने भौंहे तानते हुए कहा, "ठीक है। जो सबूत उपलब्ध हैं वही पेश करेंगे। वह टूटा हुआ ताला तो है ना?"

पर्स में रखा ताला टटोलते हुए मैंने हामी भरी। वकील साहब ने पूछा, "और वह पड़ोसन आयी है?"

"साब, वह डरती है। ताला तोड़कर प्रभाकर घर में घुसा और उसके साथ उस वक्त कोई दूसरी औरत थी यह बात किसी से न कहने की उसे सख्त हिदायत दी गयी है," मैंने कहा।

"तो सब भगवान भरोसे है, क्यों? ठीक है, हम उसे सम्मन भेजेंगे, अगली तारीख लेंगे, आज सदाशिव की गवाही लेंगे। तब तक मैरिज सर्टिफिकेट..." मैंने गर्दन हिलाकर हां कहा और हारे खिलाड़ी की तरह निराश होकर बेंच पर बैठ गयी। मेरे पास आकर बैठते हुए लगभग धमकानेवाले अन्दाज़ में सदाशिव ने कहा, "बाबा ने कहा है, अभी भी सोच लो। केस वापिस लो। अपने यहां आज तक कभी औरतज़ात ने अपने पति पर केस नहीं ठोका है, खासकर तलाक का।"

मुझे गुस्सा आया। मैंने लगभग चिल्लाते हुए कहा, "क्यों मेरा दिमाग चाट रहे हो? शादी का सबूत लाने के लिए रुपया देकर तुम्हें गांव भेजा था। क्या किया तुमने? खाली हाथ वापस लौट आये और यहां बैठकर मेरा दिमाग खा रहे हो। निकल जाओ यहां से।" वह सचमुच उठकर चलता बना। मैं देखती रह गयी।

सदाशिव मेरा भाई है, सौतेला भाई होने के बावजूद मैंने उसे कभी सौतेला नहीं माना। एक ही घर में पैदा हुए, पले। कहते हैं साथ-साथ रहने से प्रेम बढ़ता है लेकिन प्रेम सिर्फ़ मेरे ही मन में बढ़ा। सदाशिव के मन में नहीं। असल में गुस्सा तो मुझे उस पर होना था। मेरे बाबा के प्यार में वह और उसकी मां हिस्सेदार बनकर आए थे।

सम्मन लेकर प्रभाकर को घेरने के काम में सदाशिव से मदद ज़रूर मिली थी। प्रभाकर ने पहले कई बार सम्मन की तारीख पता कर झांसा दिया था।

दोपहर की चिलचिलाती धूप में सूनी आंखों से सामने देखते हुए बैठी थी कि अचानक पान के ठेले पर खड़ा सदाशिव दिखाई दिया। पान चबाता हुआ, सिगरेट के छल्ले हवा में छोड़ता हुआ वह किसी के साथ बतिया रहा था। वह प्रभाकर था। मेरी तरफ़ उसकी पीठ थी। प्रभाकर के साथ उसकी बीवी थी, मेरी सौत। कोर्ट में वह प्रभाकर के साथ खुल्लमखुल्ला घूमते हुए मानो मुझे और कोर्ट को चुनौती दे रही थी। सदाशिव भी वहीं उनके साथ खड़ा अपनी बत्तीसी दिखाते हुए हंसता चला जा रहा था। पल भर के लिए मेरा दिमाग भन्ना गया।

सबूत लाने के लिए सदा गांव गया था लेकिन वहां उसने गांव के लोगों की बैठक बुलाई। बैठक में निर्णय लिया गया कि बच्चा पैदा होने तक मैं उन दोनों को अपने घर में आसरा दूं। बच्चा पैदा होते ही वे दूसरी जगह रहने चले जायें।

यह बात मैं कैसे मानती? दो पत्नियों के बीच एक पतिवाली अजीब तिकोनी गृहस्थी मुझे नहीं चाहिए थी। आंखों के सामने उन दोनों का उठना-बैठना मैं कैसे सह पाती? इसलिए मैंने एक निर्णय किया था कि जब प्रभाकर ने उसके साथ

शादी की है तो अलग घर लेकर उसके साथ वहीं जाकर रहे। मेरे घर में अब वह कतई नहीं रहेगा। मेरी अम्मा ने जो सहा था, वही सब सहने की ताकत मुझमें नहीं थी।

मेरे पैदा होने के बाद अम्मा को कोई बच्चा पैदा नहीं हुआ। इसलिए, दस साल बाद बाबा ने दूसरी शादी की। इस तरह माई घर आयी। अम्मा ने बड़े दिल से माई को स्वीकारा। लोग अम्मा की तारीफ़ करते। कहते कि औरत हो तो तारा की मां जैसी हो। सौत के साथ अपनी छोटी बहन जैसा व्यवहार करती है। अम्मा की हालत देखकर मुझे माई पर गुस्सा आता। बाबा पर भी गुस्सा आता। दो शादियां करने वाले सभी पुरुषों और उनकी दो नम्बर की पत्नियों से मुझे नफ़रत थी।

मुझे लगता औरतें ही औरतों के घर तोड़ती हैं। ऐसे कई पुरुष हमारे रिश्तेदारों में थे जिन्होंने छोटी और मामूली-सी वजहों से दोबारा शादी रचाई थी। लेकिन कभी मेरा पति भी यह करेगा, यह मैंने नहीं सोचा था। प्रभाकर पढ़ा-लिखा है, नौकरी करता है और कार्यकर्ता है। लेकिन शादी के चार-पांच साल बाद भी बच्चा नहीं हुआ तो उसका स्वर भी शिकायती हो गया। मेरे ससुरालवाले और मायकेवालों ने भी उसे दूसरी शादी की सलाह देनी शुरू की।

रात दिन प्रभाकर सभाओं, मोर्चों, शिविर, लोगों के सरकारी काम, कार्यकर्ताओं से मिलना, आदि में व्यस्त रहता। घर लौटते ही बाहर के सभी कामों की थकान वह बच्चा न होने का बहाना बनाकर मुझ पर उतारता। धीरे-धीरे यह रोज़मर्रा की बात हुई। मैं भी तंग आ गयी। प्रभाकर के पीछे पड़कर हमने अपना चेकअप करवा लिया। दोनों की रिपोर्ट्स बिल्कुल नॉर्मल थी। प्रभाकर से मैंने कहा कि हम दूसरे डॉक्टर को दिखायेंगे। लेकिन उसने कभी मेरी बात नहीं मानी।

एक दिन बिना कुछ कहे प्रभाकर गायब हुआ और पन्द्रह दिनों बाद लौटा। सामाजिक कार्यकर्ता की हैसियत से उसका घूमना-फिरना बदस्तूर जारी था, सो मैं चुप थी।

प्रभाकर लौटा तो मैंने गुस्से से पूछा कि इतने दिन वह कहां था? हर वक्त घर से बाहर क्यों रहता है? जवाब में दुत्कारते हुए उसने कहा,

"घर में है ही क्या देखने लायक?"

"यानी, बाहर कोई देखने लायक मिल गयी है?"

"देखों तारा, मैं बच्चा चाहता हूं।"

"कौन है वह?" उसे बीच में ही रोकते हुए मैंने पूछा।

"तुम्हारे ननिहाल की तरफ़ की ही है। सोनबावड़ी की।"

यानि सदाशिव के ननिहाल की। माई की गांववाली। मेरे माथे की नस तड़की। मैंने पूछा, "आखिर क्या करना चाहते हैं आप?"

"वही मैं बता रहा था... हमने गांव में शादी कर ली है। उसे यहां लाने के लिए तुम्हारी इजाज़त...।"

"मेरी इजाज़त?" मैं चीखी। मेरे बदन में आग लग गई। "शादी करने से पहले मेरी इजाज़त ली?

"मैंने शादी की है उसके साथ?"

"वाह...ऽ। क्या तीर मारा है? लेकिन यह सब ऐसे चोरी छिपे क्यों किया? करने के बाद फिर यहां क्यों आते हो? क्या तुम जानते नहीं कि ये घर मेरा है?" मैंने जो कुछ कहा उससे प्रभाकर कुढ़ गया। बोला, "ज़रा मुंह संभालकर बात करना।" मैंने कहा, "क्यों? तुमने मुझे धोखा दिया, मेरी सौत लेकर आये इसलिए चुप रहूं? खुद गुनाह करके मुझ पर रौब गांठने में शर्म नहीं आती?"

प्रभाकर दौड़कर मेरे पास आया और मेरी कलाई मरोड़ते हुए बोला, "खबरदार अगर मुझे शर्मिन्दा करने की कोशिश की तुमने!"

चिल्लाकर मैंने पूछा, "क्या कर लोगे?" तो तुरन्त प्रभाकर ने मेरे गाल पर झन्नाटेदार तमाचा रसीद करते हुए कहा, "बांझ होकर ज़बान लड़ाती हो?..."

मैं चीखी, "चले जाओ... निकल जाओ यहां से ...मैं शायद बहुत ज़ोर से चीखी थी क्योंकि किसी ने हमारे घर की कॉलबेल दबायी। दरवाज़ा खोलकर देखा तो डरी हुई पड़ोसन पूछने लगी, "क्या हुआ?" उसे नज़रअन्दाज़ करते हुए मैं दरवाज़े से ही चिल्लाई, निकलो, निकल जाओ कहा ना?"

खुला दरवाज़ा, उसमें से झांकते पड़ोसी और मेरा चंडिका-सा रूप देखकर प्रभाकर बौखला गया।

दांत पीसते हुए उसने अपना ब्रीफकेस उठाया और मेरी तरफ़ देखते हुए आंखें तरेर कर कहा, "देख लूंगा तुझे" और वह झट-से बाहर निकल गया। मैं सोफे पर लुढ़क गयी।

पता नहीं कितने देर तक मैं उसी तरह बैठी रही। अंधेरा घिर आया तो मुझे एक बात का डर लगने लगा। रात भर में कभी लौट कर प्रभाकर ने दरवाज़े पर तमाशा खड़ा किया तो? मैं क्या कर सकती थी, मैं फिर उठी। थैली में दो साड़ियां ठूंसी। दरवाज़े पर बड़ा-सा ताला ठोंका। तुरन्त सदाशिव की खोली की तरफ़ चल दी।

सदाशिव भी सुनते ही भड़क गया। "उसकी ये मजाल?" कहते-कहते दो-चार तगड़ी-भद्दी गालियां उसने प्रभाकर के नाम पर चस्पां कर फिर मुझसे पूछा, "फिर अब करना क्या चाहती हो तुम?"

"उस पर मुकदमा ठोकेंगे, और क्या?" मैंने कहा।

"और नहीं तो क्या", सदा ने भी कड़ा रुख अपनाते हुए कहा, उसे अपने किये की सज़ा तो दिला के रहेंगे।"

मैं रात भर सो नहीं पायी। प्रभाकर का हमेशा से गायब रहना, दूसरी शादी के बारे में बताना और झन्नाटेदार तमाचा जड़ देना, सब एक-एक कर याद आने लगा। सुबह मैंने सदाशिव से कहा कि वह प्रभाकर की कंपनी में जाकर उससे मिले और पता करे कि लड़की कौन है, और कब उन दोनों ने शादी की।

सदाशिव ने कहा, "ठीक है पता करते हैं कि उसने किया क्या है? और दफ्तर नहीं जाओगी आज।"

"नहीं। हरारत-सी लग रही है। तुम वहां रुकना मत। शाम को जल्दी लौट आना।"

"ज़रा, दस रुपये देना तो", खिसियानी हंसी हंसते हुए सदाशिव ने कहा। उसे दस के नोट थमाते हुए मैंने कहा, "कुछ पता करके ही आना। कुछ सुराग ज़रूर लाना।"

दोपहर ढलने के बाद सदाशिव लौटा। लेकिन लौटा हुआ सदाशिव कोई और ही था। हो सकता है प्रभाकर से गलती हुई हो लेकिन बच्चे की खातिर... कहते हुए वह मुझे ही समझाने लगा।

उसकी बातों से कुछ इतना पता चला कि चार दिन पहले गांव में ही प्रभाकर की शादी हो चुकी है और उसकी नयी ब्याहता गांव में प्रभाकर के ही घर रहती है।

रातवाली थैली उठाकर शाम की गाड़ी से मैं गांव रवाना हुई। सुबह थके हुए तन-मन से मैंने गांव में कदम रखा तो सब लोगों को अपनी तरफ़ ताकते हुए पाया। किसी के चेहरे पर मुझे पढ़ने की कोशिश थी, तो किसी चेहरा "प्रभाकर की पत्नी क्यों आई?" इस बात का अन्दाज़ा लगाने की कोशिश कर रहा था।

आंगन में आयी तो देखा कि ससुरजी बरामदे में बैठे चिलम पी रहे हैं। मुझे देखते ही वह सकपकाये। उन्होंने कहा, "ताराबाई? अचानक कैसे आना हुआ?" मैंने थैली नीचे रखी। अभी बैठ ही रही थी कि अन्दर के दरवाज़े के पास कहीं चूड़ियां खनकीं। पल भर में झांककर कोई दरवाज़े के पीछे छिप गया, यह मैंने महसूस किया।

मैं कुछ कहती इससे पहले ससुरजी बोले, "ताराबाई, यात्रा से थक गयी होंगी। हाथ-मुंह धो लो। फिर बातचीत होती रहेगी।"

"अब बचा क्या है बोलने के लिए", मैंने कहा, "इतना सब हुआ और आपने मुझे खबर भी नहीं की।"

"क्या कहा? बताया नहीं?" जली हुई तमाखू चिलम से नीचे झटकते हुए अचरज भरे स्वर में ससुर ने कहा, "लेकिन प्रभाकर ने तो यही कहा कि इस शादी के बारे में तुम्हें कोई आपत्ति नहीं है।"

मैं समझ नहीं पायी कि ससुरजी को क्या कहूं? गुस्से से सिर चकराने लगा। सीढ़ियां उतरकर मैं एकदम अन्दर गयी... अन्दर चूल्हे के पास मेरी सौत लम्बा घूंघट काढ़े बैठी थी। मुझे देखकर वह डर गई। बिल्ली की तरह मेरी तरफ़ देखने लगी। उसके हाथ की हरी चूड़ियां या माथे की बड़ी बिन्दी से ज़्यादा उसकी कमसिनी ही मेरे सीने में खंजर की तरह उतर गई। अचानक मैं चिल्लाई, "इसका अंजाम बहुत बुरा होगा,कहे देती हूं।" ससुरजी हड़बड़ाकर अंदर आते हुए बोले, "धीरज से काम लो ताराबाई, धीरज से।"

"कैसे धीरज धरूं? ये सब करके मेरी ज़िन्दगी में आग लगाते हुए आप लोगों को मेरा ख्याल नहीं आया?..." मैं चीख-चीख कर बोल रही थी। आवाज़ सुनकर गांव के लोग आंगन में इकट्ठे हो गये। ससुरजी बाहर गये और उन पर बरसे, "यहां तमाशा चल रह है क्या? चलो, निकलो यहां से।" लोग जाने के लिए मुड़े तो मैं चिल्लाई, "रुको, मैं आपसे पूछती हूं... मैं इस घर की बहू हूं। और मेरे होते हुए आप इस लड़की को बहू बनाकर कैसे ले आये?"

मेरी बात जैसे लोगों तक पहुंची ही नहीं, वे चुपचाप चलते चले गये। अपनी थैली उठाते हुए उनके पीछे मैं चल पड़ी। "ठीक है, मैं भी देख लूंगी..."

"ताराबाई... ताराबाई... सुनो तो..." ससुर कहते रहे लेकिन मैं रुकी नहीं।

धूप अब तेज़ हो गई थी। बदन जलने लगा था। मन भी गुस्से से सुलग रहा था। जंगल रौंदते हुए मैं मायके की तरफ़ बढ़ रही थी।

मायके पहुंची तो सब सुनसान था। दरवाज़े भिड़ाकर सब लोग खलिहानों में गये हुए थे। घर में बस अम्मा थी। इन दिनों बाबा और वह बीमार चल रहे थे।

मुझे आंगन में देखकर अम्मा बांह पसारे आगे आई। मुझसे लिपटकर रोने लगी। मैंने पूछा तो अम्मा बोली, "बेटी, देख तेरे बाबा बीमार हैं। तेरी खबर सुनते ही उन्होंने खाट पकड़ ली। हम लोगों को पहले कुछ पता नहीं था। उस दिन मेले में तुम्हारे पति से बात हुई लेकिन उसने हमें कुछ नहीं बताया। फिर खबर आयी कि उसने तुम्हारी इजाज़त से दूसरी शादी रचा ली है।"

मैंने उनकी सारी बातें चुपचाप सुन लीं। बाबा की तरफ़ देखा। मैंने पूछा, "क्या तकलीफ़ है बाबा?" तो सांस छोड़ते हुए उन्होंने कहा, "अब क्या होना है? अब हम थक गये। झुक गये। अब यह सब चलता रहेगा..."

मैंने मुंह धोकर, चाय पी और थके शरीर को दीवार का सहारा देते हुए बैठ गयी। फिर कहा, "बाबा, रात को चार समझदार लोगों को बुलाना। मैं कुछ फैसले करना चाहती हूं।" दोनों ने मेरा कहा सुनकर एक दूसरे की तरफ़ देखा। कुछ समय बाद अम्मा ने कहा, "बाई, अपना भाग्य ही खोटा हो तो किसे दोष दूं? फिर हमारी तो है औरतज़ात। और मुझे देख तारा, हम सौतें भी बहनों की तरह रहीं न?"

"अम्मा, आपने जो किया वह शिक्षा हमें मत देना, वह समय ही थी वैसा। लेकिन अब ज़माना बदल गया है।"

"ठीक है, पर यह तो बताओ कि तुम करना क्या चाहती हो?"

"मैं तिकोना घर नहीं बनाना चाहती। मैं तलाक चाहती हूं।" मैंने बेझिझक कह दिया। "देखो, हमारा पक्ष लूला है। तुम्हारी शादी को आज दस साल हुए, अभी बच्चा नहीं पैदा हुआ... तो क्या अब आप गारंटी दे सकते हैं कि बच्चा पैदा होगा ही?" मेरे सवाल का जवाब बाबा के पास नहीं था। वह चुप रहे।

मैंने कहा, "देखो, प्रभाकर ने शादी कर ली और अब उसकी बीवी उसके साथ ही रहती है। इन दो बातों पर गौर करके पंचायत बुला लो। इसका विरोध करो। प्रभाकर को सज़ा भी दिला दो। सबसे ज़रूरी है पंचायत का यह फैसला करना कि अब मेरा और उसका रिश्ता खत्म हो चुका है। और पंचायम प्रभाकर को ताकीद दें कि अब वह मेरे घर में रह नहीं पायेगा।" मेरी बात सुनकर बाबा ने कहा, "ये क्या बोल रही हो? औरतज़ात हो तुम, अकेले कैसे रहोगी।" मैंने तैश में कहा, "क्यों नहीं रह सकती? कितनी ही औरतें हैं जो अकेली रहती हैं। मैं भी वैसे ही रहूंगी। लेकिन मैं उन दोनों को सबक सिखाऊंगी।"

उनकी उदासीनता और चुप्पी से जो संकेत मुझे मिल रहा था उसे मैंने स्पष्ट रूप में भांप लिया। असल में वह, मेरा, मेरी पढ़ाई-लिखाई का, नौकरी और वैवाहिक जीवन, मेरी भावनाओं और मेरे सारे वजूद का अपमान था।

दोपहर में खाना खाकर तुरन्त वापिस लौटने की मैंने सोची थी। मगर मां बोली, "रात भर तो ठहरो, रात में बातें करेंगे।"

"बात करने को बचा ही क्या है?" मैंने तुनककर कहा।

"अभी मत जाओ। चेहरा कितना उतर गया है तुम्हारा।" मां को सिर्फ़ मेरा चेहरा नज़र आ रहा था। वह मेरे मन की थाह नहीं ले पा रही थी।

अंधेरा होते ही माई घर में आई। सारा शरीर कीचड़ से सना हुआ। बाल चेहरे पर बिखरे हुए। पसीने से तर। सिंदूर नाक तक फैल आया था। आते ही मुझे उड़ती निगाहों से देखकर वह सीधे पिछवाड़े चली गई। उसकी नज़र और उसका यूं चले जाना मुझे अखरा। उसने मुझे "कैसी हो," या "कब आई" यह तक नहीं पूछा। पूछती भी किस मुंह से? मेरी सौत उसकी गांववाली थी। इतना ही नहीं रिश्ते में वह उसकी दूर की बहन भी थी। फिर मैंने भी उसे सुनाते हुए अम्मा से कहा, "हंसते-खेलते घर में आग लगाने की आदत ही है सोनबावड़ी की औरतों को। पता नहीं और कितने घरों में आग लगायेंगी।"

अम्मा ने एकदम से कहा, "बेटी, इस शादी के बारे में उसे कुछ भी पता नहीं है। उसे कुछ मत कहो।" मैंने कहा, "क्यों न कहूं? अम्मा, तुम चुप रही इसीलिए तुम्हें यह वनवास झेलना पड़ा। अब यही सब मेरे भी हिस्से आ गया..." गुस्से में मैं बोलती चली गई। अम्मा उठकर अंधेरे में बाहर कहीं चली गई।

रात को खाना खाते समय लालटेन की रोशनी में मैं माई की तरफ़ देख रही थी लेकिन न उसने मुझे देखा न मुझसे कोई बात ही की। उसकी चुप्पी मुझे अम्मा, बाबा और गांववालों के शब्दों से ज़्यादा गड़ रही थी।

फिर तो प्रभाकर पर मुकदमा ठोंकना है यह मैंने पक्का तय किया। रुपया खरचना पड़ेगा, छुट्टियां लेनी पड़ेंगी और सबके ख़िलाफ़ खड़े होना पड़ेगा। चलेगा। कम-से-कम इससे मेरे मायके वालों को और ससुराल वालों को सीख तो मिलेगी।

"प्लीज़ योर ऑनर", शब्दों से मेरी तन्द्रा टूटी। वकील कोर्ट के सामने केस रख रहे थे... "फरियादी ताराबाई सोनावणे को प्रभाकर सोनावणे ने बहुत सताया है। ताराबाई के घर में जबरन एक औरत के साथ घुसकर रहता था। ताराबाई ने इसका विरोध किया तो उन्हें गन्दी गालियां पड़ी और उन्हें पीटा भी गया। ये गम्भीर अपराध है।" वकील कोर्ट के सामने केस खड़ा कर रहे थे।

उन्होंने कहा, "ताराबाई ने प्रभाकर और उसके साथ रहने वाली महिला को घर से भगा दिया। इसीलिए चिढ़कर आरोपी प्रभाकर ने ताराबाई के ऑफिस जाने के बाद उसके घर का ताला तोड़ा और उस महिला के साथ घर में

प्रवेश किया। उस समय ताराबाई के पड़ोसी वहीं उपस्थित थे।"

अपने जवाब में प्रभाकर ने साफ़ इनकार किया कि उसने ताला तोड़ा। ताला तोड़ते समय साथ किसी महिला के होने की बात से भी इन्कार किया। उसने कहा, "मैंने दूसरी शादी नहीं की। सो किसी औरत का मेरे साथ होने का सवाल ही नहीं उठता। मैं गांव लौटा और रास्ते में एक परिचित व्यक्ति से मेरी भेंट हुई। उसी के साथ मैं घर लौटा, अपनी चाभी से दरवाज़ा खोलकर अन्दर आया। बाद में ताराबाई ने वह चाभी मुझसे ले ली।"

"तुम्हारे साथ दूसरा व्यक्ति कौन था?" वकील ने पूछा। धूर्त हंसी के साथ मेरी तरफ़ देखते हुए प्रभाकर ने जवाब दिया। "मेरी इकलौती पत्नी का इकलौता भाई सदाशिव कांबले मेरे साथ था।" मैंने चौंककर सदाशिव की तरफ़ देखा तो वह "शांत रहो", "रुको" के संकेत मुझे दे रहा था।

वकीलों ने फिर सदाशिव पर प्रश्नों की बौछार की। पर सदाशिव पर जैसे किसी ने मन्त्र ही फेर दिया था। उसने अपनी ज़बान से प्रभाकर की शादी नहीं होने का सफ़ेद झूठ परोसा। और कहा, "इधर कुछ समय से मेरी बहन ताराबाई और बहनोई प्रभाकर के बीच झगड़े चल रहे थे। बच्चा नहीं होना ही उन झगड़ों की जड़ थी यह सब लोग जानते हैं।"

"फलां तारीख को मेरे बहनोई प्रभाकर मुझे रास्ते में मिले। उन्होंने घर चलने के लिए कहा सो मैं उनके साथ घर चला गया। प्रभाकर ने चाभी से दरवाज़ा खोला। हम लोग अन्दर दाखिल हुए। ताराबाई की गलतफहमी को कोर्ट दूर करे और दोनों को सुलह करने की सलाह दे।"

काफी लम्बे बयान के बाद शादी का सबूत पेश करने के लिए कहा गया। अगली तारीख पक्की करने के बाद कोर्ट बर्खास्त हुआ। वकील भुनभुनाते हुए बाहर निकले और उन्होंने कहा, "तुम्हारा इकलौता गवाह, तुम्हारा भाई भी तुम्हारे ख़िलाफ़ क्यों गया?"

"साहब, मैं क्या कर सकती हूं? गांव से लौटने के बाद सुलह कराने के लिए वह मेरे पीछे पड़ा था।" "तो क्या, बिना किसी पूर्वसूचना के उसे ऐसा करना चाहिए था? चाहें तो झूठी गवाही देने के जुर्म में हम उसे सज़ा भी दिला सकते हैं।"

"हां साहब, लेकिन बिना सबूत के मैं कुछ भी नहीं कर सकती हूं यह भी वह जानता है। इसके बावजूद मैं यह केस लड़ूंगी, साहब..."

"किसके सहारे?"

"देखते हैं, कोई-न-कोई राह निकल ही आयेगी।" मैंने कहा तो सही लेकिन खुद मुझे अपनी नाव डूबती महसूस हो रही थी।

"ठीक है, फिर एक बार मैं आपके पड़ोसियों से मिल लेता हूं। देखते हैं मेरी बातों का क्या असर होता है... इसके बावजूद शादी का प्रमाणपत्र तो चाहिए ही"।

दूसरे दिन दफ्तर गयी तो सहेलियों ने कहा, "गांव जाओ, किसी पुरोहित को पकड़ो। रुपये देकर प्रमाणपत्र ले आओ। जब प्रभाकर झूठ बोल रहा है तो उसे सबक तो सिखाना ही पड़ेगा ना? सच पूछो तो घर की चीज़ें गुम हो जाने की रपट भी तुम्हें लिखानी चाहिए।"

"सचमुच, ऐसा ही करें, तो? वैसे भी मुझे सब तरफ़ से कंगाल बना के ही प्रभाकर गया है। सदा भी उसके साथ हो गया है। मेरी सौत दूर के रिश्ते में उसकी मौसी जो लगती है। वह प्रभाकर से जाकर मिला ही। इसी बहाने भाई से भी बदला लिया जा सकता है। तीन चार दिनों तक यही विचार मेरे दिमाग में कौंधते रहे।

उस दिन मैं ऑफिस से जल्दी ही घर पहुंची। वकील के आने की बात पड़ोसन को बतायी और ताला खोलकर तुरंत घर में घुस गयी। प्रभाकर का डर भी था। न जाने कब आ धमके।

कपड़े बदलकर चाय रखी तो बेल बजी। मुझे लगा वकील होंगे। की-होल से झांककर देखा तो दंग रह गई। बाहर माई खड़ी थी। मैं डर गयी। ये क्यों आयी होगी? डरते-डरते, बड़ी सावधानी से दरवाज़ा खोला। वह अकेली ही आयी थी। उससे कुछ बोलने की इच्छा ही नहीं हुई। उसने भी कुछ नहीं कहा। अन्दर आकर ज़मीन पर ही बैठ गयी। पानी का गिलास उसके सामने रखते हुए फिर मैंने बात छेड़ी, 'कब आयी?' 'सुबह' "यहां कौन ले आया? सदा।"

"बाबा, अम्मा कैसे हैं?"

"ठीक हैं।"

वह गिनकर ही बोल रही थी लेकिन पता नहीं क्यों, मुझे लगा कि वह बहुत कुछ बोलने आयी है। वह क्या बोलना चाहती थी, यह भी मैं जानती थी। सदा ने मेरे ख़िलाफ़ झूठी गवाही दी थी। उसे मैं अन्दर करवा सकती थी। मेरी सौत उसकी बहन लगती थी। शायद यही वह कहने आयी थी कि मेरी बहन और अपने भाई को माफ़ कर दो।

उसके सामने चाय रखकर मैंने पूछा, "क्यों आयी हो?"

चाय की भाप की तरफ़ देखते हुए माई ने कहा, "तारा, मैं जानती हूं तुम मुझसे नाराज़ हो, बिल्कुल बचपन से ही नाराज़ हो। मैं घर में आई इसलिए तुम्हारी अम्मा पर अन्याय हुआ तुम्हें ऐसा लगता था। लेकिन क्या तुमने कभी मेरे साथ हुए अन्याय के बारे में सोचा है? तुम जब दस साल की थीं तब मैं सत्रह वर्ष की थी। मुझे मां बुलाते समय तुम्हें दुःख होता था, पर तुम्हें बेटी कहते समय मुझे भी बुरा लगता था। लेकिन ये बातें आखिर हम बतायें तो किसे। तुम्हारी मां ने मुझे स्वीकारा इसलिए उन्हें बड़प्पन मिला लेकिन मैंने सबको अपनाया तो मुझे क्या मिला? दो बीवियों का पति होना पुरुष के लिए आनंद की बात होगी लेकिन इससे औरतों के जीवन का क्या हश्र होता है इस पर कभी किसी ने नहीं सोचा।" माई के मुंह से ये फलसफ़े जैसी बात सुनकर मैं दंग रह गयी। चाय की चुस्की लेते हुए माई इस तरह बोल रही थी मानो बीती हुई ज़िन्दगी की कड़वी यादों के ही घूंट ले रही हो।

"तारा, तुम पढ़ी-लिखी हो, नौकरी करती हो। तुम्हारे हाथ में सत्ता है सो तुम पति को कोर्ट में खींच सकती हो। मैंने और तुम्हारी अम्मा ने क्या किया? मैं बाप की उम्र के आदमी की बीवी बनी। उस वक्त मुझ पर क्या बीती होगी? इसका तुम्हें आज भी ख्याल नहीं है। तुमने कहा था कि सोनबावड़ी की औरतें हंसते-खेलते घरों में आग लगाती हैं, लेकिन तारा आग औरतें नहीं लगातीं, आग लगाते हैं आदमी। अपनी बच्चियों को किसी के भी हाथों बेच देते हैं और किसी की नन्ही बच्ची को भी ब्याह लाते हैं। तारा जो तुम आज कर रही हो वह मैं भी करना चाहती थी। पर मैं ठहरी अनपढ़-गंवार। मेरे पास न शिक्षा थी न सत्ता। लेकिन तुम कर सकती हो, इसलिए मुझे तुम पर नाज़ है।"

"मैं जानती हूं कि तेरी तरफ़ से बोलने वाला कोई नहीं है क्योंकि पढ़ने-लिखने के बावजूद तुम एक औरत ही हो इसलिए तुम्हारे भाई ने—सदाशिव ने—भी झूठी गवाही दी है। लेकिन तुम चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारे साथ हूं। जंवाईबाबू की दूसरी शादी का सबूत तुम्हें चाहिए था ना? मैं लायी हूं।" माई ने अपनी थैली में से कागज़ निकाला और मेरे हाथ में दिया। कहा, "जिस पुरोहित ने तुम्हारे पति की शादी रचाई उससे मैं लिखा कर लायी हूं यह कागज़।" ये लो, और अपने भाई और पति का जो करना हो करो।"

"तारा, ऐसे क्या देख रही हो, तुम्हारा पति शादी रचाकर इंकार कर रहा है। उसने तुम्हारे बारे में नहीं सोचा। यह तो चलो ठीक है। लेकिन जिसके साथ उसने शादी की उसके बारे में सोचा है? उसके साथ शादी की बात को अगर वह झूठ बताता है तो उसे किस रिश्ते से रख रहा है? अपनी रखैल बनाकर?..."

माई का सवाल सुनकर, उसका लाया सबूत देखकर मैं दंग रह गई। दरवाज़े की बेल बजी, बाहर वकील खड़े थे और मैं अचम्भित-सी माई की तरफ़ बस देखती रह गई।

अन्या से अनन्या तक की यात्रा...
- जद्दनबाई

नग़मा जावेद मलिक

भारत की पहली महिला फ़िल्म निर्माता और संगीतकार जद्दनबाई, मशहूर फ़िल्मी कलाकार नर्गिस की मां, संजयदत्त की नानी ने एक ऐसे माहौल में जन्म लिया, जिन्हें कोठेवालियां कहा जाता है। एक कोठे वाली दूसरी कोठे वाली को जन्म देती है, लेकिन जद्दनबाई एक अलग दिल-दिमाग लेकर आयी थीं। उन्होंने बहुत छोटी उम्र में अपने बारे में सोचा और अपनी दुनिया खुद बनाई।

उनका जन्म कब हुआ इस बारे में प्रामाणिक जानकारी नहीं है क्योंकि उनकी पैदाइश उस समाज में हुई जहां जन्म और शादी के रिकार्ड नहीं रखे जाते थे। जद्दनबाई के बुज़र्गों का कहना था कि उनका जन्म 1909 में हुआ। यह वह सामंती ज़माना था जब कोठे सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र समझे जाते थे, यहां शहज़ादे, राजकुमार और ज़मीदारों के बेटे रहन-सहन का सलीका और बोल-चाल के अदब सीखने आते थे। ये तालीम व तरबियत के मदरसे थे। इन कोठों पर गाने वाली और नाचने वाली लड़कियां भी होती थीं, जो बेहतरीन उर्दू गज़लें सुनाकर उनका मनोरंजन भी करती थीं। अपने उन्नत रूप में ये कोठे संगीतकारों, नृत्यकारों और कवियों को सृजन का एक बेहतरीन माहौल प्रदान करते थे।

अपने बेटी नरगिस के साथ जद्दनबाई (दायें)

ये सस्ती कला के केन्द्र नहीं थे बल्कि उच्च स्तरीय मुस्लिम संस्कृति का एक नमूना थे। कुछ शरीफ़ घरानों में तो यह कोठे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा और सौंदर्य भावना के प्रतीक थे। कोठेवालियों को भी गर्व होता था कि वे आश्रय में हैं। अपने आश्रयदाताओं की इजाज़त के बगैर वे बाहर की दुनिया में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करती थीं। आश्रयदाता भी सिर्फ़ संगीत सुनते थे और नृत्य देखते थे। बाद के काल में इन कोठों का स्तर गिर गया और वह विलासता के अड्डे बन गए।

जद्दनबाई भी इसी माहौल में पैदा हुईं। गाने और गैर मामूली प्रतिभा देखकर उनकी मां ने एक सुसंस्कृत कश्मीरी परिवार के कोठे पर उन्हें रख दिया। निसंदेह यह मोतीलाल नेहरू का परिवार था। कहा जाता है अनवर हुसैन के बेटे सरवर ने अपने परिवार के बुजुर्गों से सुना था कि जद्दनबाई ने जवाहरलाल नेहरु के हाथ पर राखी बांधकर उन्हें राखी-भाई बनाया था। यहां जद्दनबाई का व्यक्तित्व एक दृढ़ विश्वासी और सजग लड़की के रूप में निखर उठा। छोटी उम्र से ही अपनी प्रतिभा को मांझने और निखारने का उनमें ज़बरदस्त जज़्बा था। वह गौहरजान की शिष्या बनीं जो उस युग की नामीगिरामी गायिका थीं। जद्दनबाई ने

उनका उतार चढ़ाव देखा और उससे सबक हासिल किया। बाद में वह इलाहबाद से बनारस चली गईं। उस वक्त उनके दिमाग में एक ही ख्याल था कि उन्हें ठुमरी में प्रवीणता प्राप्त करनी है। इसमें सफलता ने उनके कदम चूमें।

जद्दनबाई ने निश्चय किया कि वह गायिका को कोठे की सीमित परिधि से निकाल कर उसे एक विस्तृत आकाश देंगी और भाग्यवश उन्हें यह अवसर भी मिल गया। इलाहाबाद से गायकों का एक ग्रुप कोलकाता ले जाया गया। इनके साथ एक और छोटा ग्रुप था जिसमें जद्दनबाई भी थीं। यहां से जद्दनबाई की ज़िंदगी ने एक नया मोड़ लिया। यहां के.एल. सहगल ने उनकी प्रतिभा को पहचान कर कहा कि वह आम कोठेवाली नहीं हैं...

जद्दनबाई की ज़िंदगी में दाखिल होने वाले दूसरे व्यक्ति उत्तमचंद मोहनचंद थे जो मोहन बाबू के नाम से जाने जाते थे। वह इंग्लैण्ड में डॉक्टरी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए जा रहे थे। लेकिन जद्दनबाई के इश्क में ऐसे गिरफ़्तार हुए कि डॉक्टरी का इरादा छोड़कर हमेशा के लिए उनसे बंध गए। मोहन बाबू के परिवार ने ऐसी बहू को स्वीकारने से इंकार कर दिया जो अब सत्ताईस साल की थी और सत्रह साल की उम्र में उसकी पहली शादी हो चुकी थी। वह दो बेटों की मां भी थी। लेकिन मोहन भाई का प्रेम इतना सच्चा था कि कोई चीज़ उनके रास्ते में नहीं आई। जद्दनबाई के लिए उन्होंने ब्राह्मण होते हुए भी इस्लाम धर्म स्वीकार किया और अब्दुल राशिद नाम ग्रहण किया। इस प्रकार 1928 में वे शादी के बंधन में बंध गए।

मोहन बाबू के घरवालों ने उनसे हर रिश्ता तोड़ लिया। बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में इस अनोखे प्यार की कहानी बहुत प्रसिद्ध हुई। बाद में मोहन बाबू ने लखनऊ में मेडिकल की शिक्षा की शुरूआत की लेकिन जल्द ही उन्होंने डॉक्टर बनने का इरादा हमेशा के लिए छोड़ दिया। ज़िन्दगी का हर लम्हा वह जद्दनबाई के साथ गुज़ारना चाहते थे। उन्होंने जद्दनबाई को उनके करियर के लिए प्रोत्साहित किया। जब उनके बेटी पैदा हुई तो उन्होंने उसका नाम फातिमा अब्दुल राशीद रखा। पिता के लिए वह तेजस्वरी मोहन थी। अपनी बेटी से उन्हें गहरा लगाव था और बेटी भी उनसे बहुत प्यार करती थी।

मोहन बाबू ने जद्दनबाई को घर की सुरक्षा और आत्मीयता प्रदान की। सहगल ने उन्हें बताया कि वह संगीत के पंखों पर परवाज़ करके पूरी दुनिया को जीत सकती हैं। जब पंजाब के एक ऑफिस में काम करने वाला एक व्यक्ति शोहरत हासिल कर सकता है तो वह क्यों नहीं कर सकतीं? अगर सितारों की दुनिया को वह अपनी आवाज़ के सहारे जीत सकती है तो अपने क़दम क्यों रोकें? उस वक्त बोलती फ़िल्मों ने एक नई राह खोल दी थी। 1930 में वह लाहौर आ गईं। उसका संगीत बेहद पसन्द किया जाता था। यहां वह ग्रामोफोन की कोलंबिया कंपनी से जुड़ गईं और उनकी गज़लों ने धूम मचा दी। लाहौर में वह फ़िल्मों में अभिनेत्री भी बनीं और अपने खुद के गाने भी गाए। 'इंसान और शैतान', 'राजा गोपीचंद', 'सेवा सदन' (1934) उनकी यादगार फ़िल्में हैं।

जद्दनबाई बहुत सुंदर नहीं थीं लेकिन उनके संगीत ने उन्हें बॉक्स ऑफिस पर सफलता दिलवाई। जद्दनबाई की गैरमामूली लगन और महत्वकांक्षा 1934 में उन्हें बम्बई ले आई। यहां उन्होंने अपनी 'संगीत फ़िल्म' कंपनी बनाई और 'तलाशे हक़' 1935 में रिलीज़ हुई। यह फ़िल्म लाहौर

की फ़िल्मों की तरह हिट तो नहीं हुई लेकिन दो कारणों से इतिहास निर्मित किया।

वह भारत की पहली महिला संगीत निर्देशक थीं जिन्होंने अपनी फ़िल्म के लिए स्वयं संगीत तैयार किया था। बाद में नर्गिस यह बात बड़े गर्व से लोगों को बताती थीं। इस फ़िल्म में पहली बार नर्गिस ने बाल कलाकार की भूमिका निभाई। मरीन ड्राइव जैसे शानदार इलाके में उन्होंने घर लिया।

जद्दनबाई बहुत ही दरिया दिल औरत थीं। फ़िल्मी दुनिया में ज़रूरतमंदों की मदद करने के लिए वह बेहद मशहूर थीं। उनके परिवार में सिर्फ़ पांच लोग थे लेकिन हर समय 20-25 लोग उनके घर पर मौजूद होते थे जिनके लिए खानासामा खाना तैयार करते थे। जद्दनबाई के पास एक मानवीय दृष्टि और संवेदनशील हृदय था। अपने प्रगतिशील विचारों के चलते उन्होंने 1942 में आज़ादी की जंग में खुफ़िया रेडियो स्टेशन चलाने में भी लोगों की मदद की।

उनके बेटे अख्तर हुसैन और अनवर भी फ़िल्मी दुनिया में अपनी पहचान फ़िल्म निर्माता और अभिनेता के रूप में स्थापित कर रहे थे। शम्मी कपूर का कहना था कि जद्दनबाई के बोलने का ढंग और गालियां देने का अंदाज़ उन्हें एक कठोर व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करता था लेकिन भीतर से वह बहुत ही कोमल और दूसरों का ख्याल करने वाली महिला थीं।

वह स्वयं शिक्षित नहीं थीं लेकिन मोहन बाबू और वह दोनों इस बात के लिए पूरी तरह सहमत थे कि अपनी बेटी को पढ़ाना बहुत ज़रूरी है। नर्गिस पढ़ने में होशियार थी। वह डॉक्टर बनना चाहती थी। जद्दनबाई भी निर्माताओं से उसे दूर ही रखती थीं। लेकिन महबूब खान ने जब अपनी फ़िल्म के लिए नर्गिस को हिरोइन के रूप में लेना चाहा तो जद्दनबाई इंकार नहीं कर सकीं और यहीं से नर्गिस की ज़िंदगी एक नई राह पर निकाल आई।

8 अप्रैल 1941 को जद्दनबाई की ज़िंदगी का सितारा हमेशा के लिए डूब गया लेकिन एक तवायफ़ ने किस तरह अपनी सीमित परिधि से निकाल कर बम्बई नगरी की फ़िल्मी दुनिया में अपनी एक पहचान और जगह बनाई यह अपनी मिसाल आप है। जद्दनबाई ने सिद्ध कर दिया कि नारी अबला नहीं सबला है।

नग़मा जावेद मलिक, *लेखिका व कवयित्री हैं।*

औरत

कमला भसीन

पहाड़ सी मुसीबतों के बीच
आगे बढ़ पाने का नाम औरत है
फटकारती नसीहतों के बीच
अपनी कह पाने का नाम औरत है।

हार के अन्देशों के बीच
परचम लहराने का नाम औरत है
ज़हरीले संदेशों के बीच
मीठा कह पाने का नाम औरत है

फैलते बाज़ारों के बीच
घर बना पाने का नाम औरत है
अनगिनत आज़ारों के बीच
मुस्कुरा पाने का नाम औरत है

सैंकड़ों हैवानों के बीच
इन्सां रह पाने का नाम औरत है
दम तोड़ती जानों के बीच
नई जानें बना पाने का नाम औरत है

कट्टर धर्मों के बीच
मज़हबी रह पाने का नाम औरत है
फूटे कर्मों के बीच
क़िस्मत बना पाने का नाम औरत है

अक्का महादेवी

अनामिका

अक्का महादेवी दक्षिण की मीरा थीं। एक आदर्श पुरुष, मनचीते पुरुष यानी परमपुरुष की तलाश में उन्होंने महल छोड़ा! कहते हैं, वे इतनी रूपवती थीं कि राजा उन्हें ब्याहना चाहते थे। उन्होंने बलात् उन्हें कुछ दिन महल की घेरेबन्दी में भी रखा, पर उनके मौन प्रतिरोध में इतनी ताकत थी कि उन पर कोई ज़बर्दस्ती चली नहीं। एक बार राजा ने आंचल उतारा तो प्रतिरोध में अक्का ने संकल्प लिया कि वे दोबारा कपड़े पहनेगीं ही नहीं और महाश्वेता देवी की बलात्कृत आदिवासी नायिका, दौपदी की तरह निवस्त्र ही सड़क पर आ गईं।

कबीर ने घर त्यागने की बात की थी, इन्होंने वस्त्र भी त्याग दिए। भोजन त्यागने से भी ज़्यादा गम्भीर त्याग है वस्त्र का — वह भी स्त्री के लिए। सारा आकर्षण 'मिस्टीक' का ही तो होता है, पुरुष अहंकार को आधे ढके, आधे छिपे की रूमानियत ही खींचती है। उसके पार खड़ी स्त्री उसे लुभाती नहीं, डराती है। काल की देवी, काली की गढ़न्त इसका प्रमाण है।

हमारी लोकमनीषा में दरअसल हर देवता एक महाभाव है— मूर्तिमान वीरता, मूर्तिमती शक्ति और हर देवता एक यूटोपिया भी है जिसका स्पष्ट सम्बन्ध स्त्री की अतृप्त कामना से जोड़ा जा सकता है। कृष्ण एक यूटोपिया हैं तो शिव भी यूटोपिया है। सचमुच के पुरुष इतने खूंखार, इतने क्रोधी, इतने लोभी और इतने कामना कातर दिखते हैं कि संवेदनशील स्त्रियां उनका साथ नहीं सह पातीं और मन-ही-मन किसी आदर्श पुरुष का वरण कर लेती हैं जैसे कि इन भक्त कवयित्रियों ने किया— मीरा ने कृष्ण का और अक्का महादेवी ने शिव का। ऊपरी कलेवर और वस्त्रादि के प्रश्न पर वे हंसकर, बग़ावती तेवर में कहती हैं:

जिन हाथों ने कमाया धन
उन पर लगायी जा सकता है चुंगी,
लेकिन सुन्दरता पर कौन-सा कर
बांधोगे?
वस्त्राभूषण छीन सकते हो
लेकिन क्या सकते हो छीन शांति
मेरे चारों ओर लिपटी हुई?
मल्लिकार्जुन के प्रकाश ने
लपेट लिया है जिससे,
वस्त्राभूषण से उसे क्या,
ओ मूरख!

(याइ-किन्तेल्लिमथ, 2006:141)

घर में और सड़कों पर भी पितृसत्ता की भूखी आंखों को लगातार धता बताती हुई अक्का अपनी राह बढ़ती रहीं और ऊपरी सौन्दर्य को भी धता बताती हुई बोलीं:

अन्दर से फल नहीं पके जब तक,
छिलका नहीं खोता अपनी चमक!

गुण-अवगुण बीनने में पड़ी आत्मा का व्यर्थता-बोध रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा-

जब तक गुण-अवगुण
बटोरने-बीनने में लगे हो तुम,
हो कामना की माया,
क्रोध का रंगमहल,
लोभ की मांद,
मोह का मन्दिर,
अहंकार का दुशाला,
जलन का लबादा!

और मोह-माया की व्याप्ति वे कुछ ऐसे करती हैं:

माया शरीर को आविष्ट रखती है छाया-सी
जीवनी ऊर्जा को मस्तिष्क-सी
मस्तिष्क को स्मृति-सी
स्मृति को अवधारणा
अवधारणा को विस्मृति की तरह,
हाथ में उसके गड़रिए की छड़की!

इस माया से, वासनाओं से बंधा व्यक्ति एक किसी आदर्श व्यक्ति या व्यवस्था की छाया में आकर त्यागमय व शालीन जीवन बिताने की सोचता है तो सबसे पहले खुद की हंसी उड़ाता है और फिर अपने आदर्श से अनुरोध करता है कि वो उसे पहले निजी, फिर सार्वजनिक जीवन में एक क्रांति-सी घटित करने में मदद करे-

लाठी के छोर तक चढ़ा बन्दर
डोरी के छोर से बंधी हुई कठपुतली
वैसे ही नाची हूं जैसे नचाया है
तुमने, पिता
जैसे बुलवाया है, बोली हूं
जैसे जिलाया है, जीती रही हूं!

इस तरह के समर्पण से अंह का नाश तो होता है किन्तु यह प्रश्न भी उठता है कि कर्त्ता-भाव जब मेरा है ही नहीं तो अपराध-बोध और श्रेष्ठता भी मेरी कैसे हुई। यह ठीक है कि 'पिता' 'संतान' के कर्मफल के अनुसार ही व्यवहार करने को विवश है, पर थोड़ी-बहुत तो अपना मनाही-पाबंदी वह लगा ही सकता है। इसी मनाही को आस्तिक 'कृपा' कहते हैं। और यदि आप नास्तिक हैं तो इसको त्यागमय जीवन से उपजे अपने मनोवैज्ञानिक ठहराव का फल कह सकते हैं। मनोविज्ञान कहिए या अध्यात्म, एक आदर्श की छाया में बीता हुआ निःस्वार्थ, त्यागमय जीवन व्यक्तित्व को एक खास तरह की तेजस्विता तो देता ही है।

इसी आलोक में हम महादेवी अक्का जैसी भक्त कवयित्रियों को बुद्धि और मनीषा, परा-शिक्षा और सत्संग की बलवती इच्छा से घर की देहली लांघ बाहरी दुनिया में प्रवेश करने वाली आधुनिक स्त्रियों की विकासवादी चेतना से जोड़कर देख सकते हैं।

अनामिका *हिन्दी साहित्य जगत की जानीमानी कवयित्री हैं।*

आमने-सामने

बड़ी मुश्किल है राह पनघट की
-नैनादेवी

विद्या राव

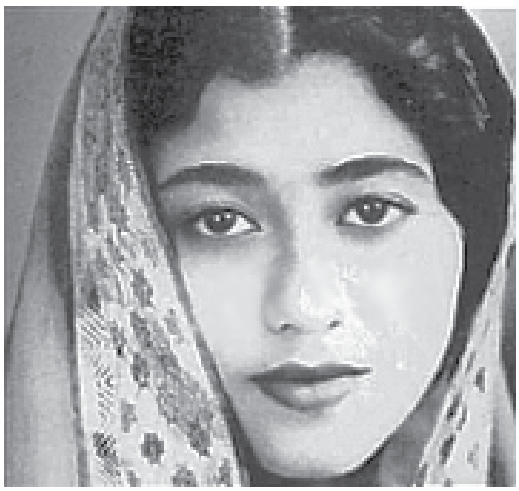

समस्त भारत के संगीत प्रेमी जब भी ठुमरी गायकों की नफ़ासत की बात करते हैं तब नैना देवी का नाम उनके होठों पर आकर ठहर जाता है। नैना देवी को संगीत की सभी धाराओं को संरक्षण प्रदान करके, उन्हें प्रोत्साहन देने का श्रेय भी दिया जाता है।

नैना देवी की खासियत यह है कि तमाम चुनौतियों का सामना करते हुए उन्होंने ऐसे समय संगीत को अपना व्यवसाय बनाया जिस दौर में इज़्ज़तदार परिवारों की गिनी-चुनी महिलाएं ही इस क्षेत्र में क़दम रखने की इजाज़त या फिर साहस जुटा पाती थीं। कुछ महिलाएं जो संगीत की तालीम हासिल करने या गाने की हिम्मत करती थी वे ख़याल गायिका को अपनाती थीं। ठुमरी व गज़ल गायन शैली जो तवायफ़ों की परम्परा से जुड़ी थी की तरफ औरतों का रूझान कम ही था।

नैनाजी का जन्म बंगाल के उदारवादी ब्रह्म-समाजी परिवार में 1917 में हुआ। उनका असली नाम निलीना सेन था। नैना देवी उनका व्यावसायिक नाम था जो उन्होंने अपने पति के परिवार की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए उस समय अपनाया जब वे महफ़िलों में गाने लगीं। पर नैनाजी बनारस में गंगा के किनारे बैठकर गाना गाने वाली उस सुन्दर आंखों वाली औरत की कहानी भी सुनाती थीं जिससे प्रेरणा लेकर उन्होंने नैना देवी नाम अपनाया था।

नैना देवी समाज-सुधारक केशब चन्द्र सेन की पोती थीं। अपनी उम्र की लड़कियों से उनका बचपन अलग था। वे अपनी बहनों के साथ स्कूल जाती थीं बंगला व अंग्रेज़ी भाषा सीखती थीं और अपने दौर की प्रख्यात गायिका गिरिजा शंकर चक्रवर्ती से संगीत की तालीम लेती थीं। कम उम्र में ही वे नाटकों में हिस्सा लेती थीं तथा जानी मानी तवायफ़ों की महफ़िलों में भी गाना सुनने जाती थीं।

संगीत में दिलचस्पी लेने के लिए भाई सुनिथ सेन ने उन्हें प्रोत्साहित किया। बड़ी बहनें बिनीता व साधना ने भी नृत्य व संगीत के प्रति उत्साह बढ़ाया। सुनिथ सेन स्वयं एक दिग्गज संगीतज्ञ थे जिनके घर में संगीत की महफ़िलें आयोजित की जाती थीं। इनमें संगीत सुनते-सुनते वे अपनी गुरु माता से मिलीं और विधिवत शिक्षा पाने लगीं।

भारतीय संगीत के साथ नैना जी के घर वालों ने उन्हें पश्चिमी संगीत से भी परिचित कराया। उनके घर में पियानो था। ब्रह्म समाजी घरों में पियानो एक आम साज़ था जिसका उपयोग पूजा में किया जाता था। नैना जी भी पियानो बजाने की कोशिश करती थीं। वे अपनी बहनों के साथ मिलकर नाटक, नृत्य-नाटिकाएं रचती व अभिनीत करतीं। थोड़ी बड़ी होने पर वे समुदाय के नाटकों में भी हिस्सा लेने लगीं।

सत्रह-अट्ठारह वर्ष की होने पर उनका विवाह कपूरथला के राज परिवार के राजा रिपजित सिंह से हो गया। इस परिवार में गाना तो दूर औरतों को गाना सुनने की भी इजाज़त नहीं थी। हालांकि अब वे औपचारिक रूप से संगीत की तालीम नहीं ले पाती थीं फिर भी दरबार में होने

वाले मुजरे और संगीत महफ़िलों को वे चिलमन की ओट से सुनती थीं। हर मुजरे के बाद वे गाने वाली तवायफ़ को घर के अन्दर बुलाकर उनसे गाने सीखतीं और मौका मिलने पर गातीं।

1949 में उनके पति की मृत्यु हो गई। बत्तीस वर्ष की नैना जी अकेली रह गईं और अपने जैसी औरतों की तरह ससुराल से उन्हें किसी भी का सहयोग नहीं मिला। इसके साथ ही रियासत में उन्हें बाहरी समझा जाता था जिसके चलते उन्होंने कई वर्ष दुःख और अकेलेपन में बिताए। पर नैना देवी ने खुद को संभाला और 1954 में ऑल-इण्डिया रेडियो में ऑडीशन दिया। वहां पर काम मिलने पर बतौर ठुमरी-दादरा-गज़ल गायिका उनके व्यावसायिक सफ़र की शुरूआत हुई।

कुछ ही सालों में वे अपनी पहचान बनाने व स्थापित करने में कामयाब हो गईं। इसी समय के आसपास वे एक नए स्थापित संगीत-नाट्य विद्यालय की निदेशिका भी नियुक्त हुई। इस विद्यालय को आज श्री राम भारतीय कला केंद्र के नाम से जाना जाता है। इस पद पर रहते हुए उन्होंने संगीत की शिक्षा को गुरु-शिष्य परम्परा के तहत चलाने पर ध्यान दिया। साथ ही संगीत पाठ्यक्रम में भी अलग-अलग पद्धतियों का समावेश करने का प्रयास किया। उन्होंने विद्यालय में उस्ताद मुश्ताक हुसैन खान, रसूलन बाई, सिद्धेश्वरी देवी व पंडित शंभू महाराज जैसे दिग्गज संगीत विदों को तालीम दने के लिए आमंत्रित किया।

नैना देवी ने इस सभी कामों के साथ-साथ अपनी संगीत शिक्षा भी दोबारा शुरू की। सारंगी नवाज़ उस्ताद सबीर खान अम्बे वाले, रामपुर घराने के उस्ताद मुश्ताक हुसैन खान और बनारस अंग ठुमरी की दिग्गज रसूलन बाई से संगीत की बारीकियां सीखीं। इसी कारण उनके संगीत में इन सभी मशहूर संगीत शास्त्रियों के संगीत का अनूठा मिश्रण दिखाई देता है।

पर इतना सब कुछ करने के बाद भी उन्हें तसल्ली नहीं हुई। उन्हें एहसास था कि संगीत की उन्नति साज़िदों की मदद करने में निहित थी। इसी सोच को आगे ले जाते हुए उन्होंने कलाकारों के लिए आवासीय योजना शुरू की जिससे उन्हें रहने के लिए अच्छे मकान मिल सकें। अपने पूरे जीवन में उन्हें तवायफ़ों को होने वाली

साथी कलाकारों के साथ नैना देवी (दाहिने से दूसरी)

तकलीफ़ों को भी दूर करने की कोशिशें कीं। उनके लिए नेकदिल संरक्षक तलाश किए जो उनकी कला को मान-सम्मान दे सकें।

नैना देवी ने अपनी सबसे बड़ी त्रासदी-आवाज़ के खो जाने को भी एक सकारात्मक मोड़ दिया। इसी के चलते वे बरेली के ख्वानखाह-ए-नियाज़ी पीर साहिब अजीज मियां राज पिया की मुरीद बन गई। इसी के साथ सूफ़ी आध्यात्म के प्रति उनका लम्बा रूझान बना रहा।

एक गुरू की हैसियत से नैना जी दयालु, बड़े दिल वाली तथा प्रेरणा देने वाली थीं। उन्हें इस बात का अफ़सोस था कि संगीत सीखने वाले ठुमरी गायिकी को गंभीरता से नहीं लेते थे। वे दो-चार बंदिशें सीखकर उन्हें महफ़िल के समापन के लिए गाते थे। इसके बावजूद उन्होंने अपने दर पर आने वाले किसी भी शार्गिद को वापस नहीं लौटाया। जो कुछ भी गायक-गायिकाएं सीखने का अनुरोध करते वे उन्हें वह सिखा देतीं। मदद, सलाह, तालीम वे सभी कुछ दिल खोलकर देती रहीं।

करीबन सत्तर की उम्र में नैना देवी हृदयगति रुक जाने से इस दुनिया से चली गईं। उनका जीवन संगीत सीखने वालों, गायक-गायिकाओं और यहां तक कि नारीवादियों के लिए भी एक प्रेरक मिसाल है। उन्होंने अपने समय में वो राह चुनी जिस पर क़दम रखने की हिमाकत कुछ गिने-चुने नामों ने ही की। नैना देवी उन्हीं में से एक थीं।

***विद्याराव** नैना देवी की शिष्या व एक मशहूर ठुमरी गायिका हैं।*

लेख

परम्परा व आधुनिकता के बीच -अतिया हुसैन

रक्षंदा जलील

अवध के परम्परावादी, मुसलमान परिवार में जन्मी, उदारवादी, अंग्रेज़ी शिक्षा द्वारा गढ़ी अतिया हुसैन को लेखन, परम्परा व आधुनिकता का अनोखा मिश्रण है। उस दौर में अंग्रेज़ी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर लिखना जिस समय गिनी-चुनी महिलाएं, विशेषतः मुसलमान महिलाएं लिखने का साहस कर पाती थीं, अतिया ने अपने लेखन से एक बहुसांस्कृतिक, अनेकवादी, और समन्वयवादी दुनिया की तस्वीर बनाई जो हमें आज भी प्रेरित करती है। अपने उपन्यास *सनलाइट ऑन अ ब्रोकन कॉलम* तथा कहानी संग्रह *फीनिक्स फ्लैड* में वे एक टूटते समाज का आधुनिक, नारीवादी व वामपंथी रंगावली से मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करती हैं। उनके लेखन की खूबसूरती और सशक्तता कहानी लेखन में औरताना परम्परा शैली को मज़ेदार और अलंकृत करने वाली है जिसके चलते "विरागो मॉडर्न क्लासिक सीरीज़" जिसमें महिला कहानीकारों के काम को पुनर्प्रकाशित किया जाता है, में उनके दो संग्रह प्रकाशित किये गये हैं।

अतिया हुसैन के लेखन की बात करते समय हम दो बातों पर विशेष ध्यान देंगे— पहली, अब समय आ गया है कि हम नारीवाद की परिभाषा को पुनर्भाषित करें। मेरे विचार में अपने फैसले खुद लेने की क्षमता औरत को सशक्त बनाती है। दूसरी, हमें इस बात पर भी पुनर्विचार करना चाहिए कि क्या वाकई सम्पन्नता में पैदा होने या परवरिश पाने वाले दुखों से कोसों दूर रहते हैं। यहां पर मैं अतिया हुसैन के अंग्रेज़ी लेखन की बात करते हुए उन्हें उनकी समकालीन लेखिकाओं के साथ जो उनकी भावनाओं के साथ इत्तिफाक रखती थीं परन्तु स्वयं उर्दू में लिखती थीं तुलना करने का भी प्रयास करुंगी।

शुरूआत में अतिया हुसैन की पुस्तक, *फीनिक्स फ्लैड* की बारह कहानियों से करूंगी जिन्हें अनीता देसाई ने स्वतंत्रता-पूर्व समय की "इमारत" का नाम दिया है। इस संकलन की प्रमुख कहानी *फीनिक्स फ्लैड* एक ऐसी बुज़ुर्ग महिला की दास्तान है जो बंटवारे के समय अपना घर छोड़कर जाने को तैयार नहीं है। उसका परिवार उसे पीछे छोड़कर चला जाता है। डरी हुई और अकेली यह महिला उसका घर जलाने आई भीड़ को फटकारती हुई आगाह करती है, "खबरदार, जो किसी ने भी गुड़ियाघर पर पैर रखा। खबरदार।" ठीक इसी तरह *द फर्स्ट पार्टी* एक युवा स्त्री की पति की पाश्चात्य दुनिया में अपनी जगह खुद की तलाशने की मार्मिक दास्तान है।" *टाइम इज़ अनरिडीमेबल* में एक औरत विदेश से अपने पति के लौटने का बरसों इंतज़ार करती है जो वापसी पर उसे छोड़कर चला जाता है क्योंकि वह उससे प्यार नहीं करता।

अतिया हुसैन की हरेक कहानी सघन व अपने आप में एक आत्म-निर्भर कथन है। उनके लेखन में सस्पष्टता, पैनापन व नफ़ासत है जो उस दौर की अंग्रेज़ी लेखिकाओं की शैली से बिल्कुल फ़र्क़ है। "इज़्ज़त" व "शर्म" जैसे शब्दों के मायने जो उस दौर के ऊंचे व नीचे सभी समाजों

में एक समान थे पर भी हुसैन का ध्यान था। एक अमीर घराने में अपनी पैदाइश के प्रति ज़िम्मेदारी व खुशी के एहसास के साथ-साथ एक औरत होने की उमंग उनके लेखन में उभरकर आती है। बड़े घर की शान-ओ-शौकत और नौकरों के तंग मकानों के फासलों को कम करती अतिया हुसैन अपनी हर कहानी में बार-बार यही कहती है कि चारदीवारी के अंदर दोनों में कोई फ़र्क़ नहीं होता। पैसे और भौतिक सुविधाओं के अंतर बड़े होते हैं पर दोनों परिवेशों में विविधता, समन्वयवादिता और समावेश का जश्न और उल्लास समान रूप से व्याप्त होता है।

अपनी मां, भाई व बहन के साथ अतिया

अतिया की कहानियों में मज़दूर वर्ग और मेहनतकश तबके को महिमामंडित करने को कोई भी प्रयास नहीं किया गया है। गरीबी का एहसास है पर उसका चित्रण सहजता और सूक्ष्म निरीक्षण के साथ किया गया है जो करीब से जानने-समझने से ही आ सकता है। अमीरों के घर के पिछवाड़े में रहने वाले परिवारों के रहने-खाने-पहनने, उनकी मेहनत की कमाई से अर्जित सामान का जींवत और विस्तृत उल्लेख अतिया हुसैन की कहानियों में दिखाई देता है। जैसा कि अनिता देसाई लिखती हैं- *"उस समय का समाज जड़वत था- सामन्तवादी समाज। ज़मीन की मिल्कियत ज़मींदार की थी- मज़दूरी मज़दूर की— उनसे क्या-कैसे, कितना निचोड़ लिया जाता था? कैसे औरतें अलग-थलग रहती थीं- उनके हक़ कौन से थे, कौन से नहीं? बुजुर्गों पंडितों और ज़मीदारों को मान-सम्मान दिया जाता था और इस पदानुक्रम और इसकी स्थिरता को डिगाना अक्षम्य अपराध था।"*

लगभग हुसैन की हर कहानी में परम्परा व आधुनिकता या पाश्चात्य और लम्बे समय से चले आ रहे जीने के तरीकों के बीच संघर्ष में हुसैन की सहानुभूति, परम्परा के साथ थी जो उनके अनुसार अधिक मानवतावादी थी। यहां धनी सबल वर्ग कमज़ोर व गरीबों की देखरेख करने की ज़िम्मेदारी निभाता था। इस लिहाज़ से वे अपनी समकालीन प्रगतिशील और प्रखर लेखिकाओं जैसे इस्मत चुगताई व रशीद जहां से अलग थीं। रशीद जहां के लेखन में अन्यायी समाज को बदलने के लिये मार्क्सवादी समझ अहमियत रखती थी। इस्मत चुगताई अपनी कलम से पारम्परिक नैतिकता और समाज में औरत के निम्न दर्जे को चुनौती दे रही थीं। वे अधिक मुखर, और बेबाक थीं- उनकी शैली औरताना तहज़ीब, यहां तक की साहित्यिक तहज़ीब की भी पारम्परिक छवि का अनुसरण नहीं करती थीं।

अगर अतिया हुसैन की तुलना किसी से समानान्तर रूप से की जा सकती है तो वह कुर्रतुलऐन-हैदर। उनका जन्म भी धनाढ़य परिवार में हुआ था और जिनके परिवार में भी औरतों की शिक्षा पर ज़ोर दिया जाता था। हैदर उर्दू और अंग्रेज़ी दोनों जबानों में लिखती थीं। प्रगतिशील और उग्र लेखक वर्गों ने हैदर की पाश्चात्य प्रभाव वाली परवरिश को नकारते हुए उन्हें खोए हुए

समाज की अमीरी और महिमा का गुणगान करने का आरोप लगाया है। परन्तु अतिया हुसैन इस प्रखर ईर्ष्या से बची रहीं क्योंकि वे गुज़रे वक्त का बखान नहीं करतीं। वे उसका जश्न मनाती हैं जो किसी समय मौजूद था पर वापस उसे लौटाने या उसका दंभ भरने की कोशिश नहीं करती। अंग्रेज़ी के इस्तेमाल ने उन्हें लिखने और अभिव्यक्त करने की आज़ादी व जगह दोनों प्रदान की है जिसकी उर्दू में लिखने वाले कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उस समय में अंग्रेज़ी में लिखने और पश्चिमी साहित्य में प्रकाशित होना अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि थी।

अतिया हुसैन अपने उपन्यास *सनलाईट ऑन अ ब्रोकन कॉलम* में एक ऐसी दुनिया का संवेदना विहीन नज़ारा प्रस्तुत करती हैं जहां सत्ता, सहूलियत और दर्जा एक हाथ से दूसरे तक खिसकते-फिसलते रहते हैं। अतिया के पिता शाहिद हुसैन किदवई गदिया, ज़िला बाराबांकी के तालुकदार और उपनिवेशतावाद-विरोधी पश्चिमी शिक्षा प्राप्त भारतीय थे। उनकी माता काकोरी के लेखक-कवि, नामचीन परिवार से थीं। अतिया के परिवार में सरोजिनी नायडू, अली इमाम, अब्बास अली बेग, मोतीलाल, जवाहरलाल नेहरु, अतिया फैज़ी व सर सुल्तान अहमद का आना-जाना था। इनके प्रभाव से अतिया का रूझान स्वदेशी आंदोलन के प्रति हो गया हालांकि उनका परिवार ब्रिटिश इण्डिया असोसियेशन का सक्रिय सदस्य था जो तालुकदारों के एक व्यापार संघ की तरह था। इसके अलावा 1857 के गदर के बाद लखनऊ ही तहज़ीब व संस्कृति का गढ़ समझा जाने लगा।

अतिया ने जीर्ण-शीर्ण होती संस्कृति की विरासत को अपने लेखन के ज़रिये दोबारा जीवनदान दिया। इस काल्पनिक दुनिया की विविधता इतनी व्यापक है कि भिखारी भी यहां अल्लाह व भगवान दोनों के नाम पर दक्षिणा मांगते हैं, एक निसतांन पुरुष पैगम्बर व हुनमान से मन्नत मानता है और अतिया के जैसे परिवार होली-दीवाली और ईद-शब्बेरात को उत्साहित हो मनाते हैं। यहां खान-पान की पाबंदियां दोस्ती में दरार नहीं डालती। सालों-साल बाद भी अतिया हुसैन के लिये यह स्वीकारना मुश्किल था कि मज़हब के नाम पर अलगाव संभव है। उनका कहना था, "वह उनकी ज़िंदगी थीं, यह हमारा जीवन था और दोनों दोस्ती में साथ जुड़ जाते थे। हम ब्याह, जन्म मरण और त्योहारों में साथ-साथ थे।'"

उनका यह विश्वास उनके उपन्यास *सनलाइट ऑन अ ब्रोकन कॉलम* में गहराता है जिसमें एक अनाथ लड़की लैला जिसकी परवरिश एक अमीर घराने में हुई है, एक दिन सिनेमाघर और अंग्रेज़ी नाटक छोड़कर सत्याग्रहियों के साथ हो लेती है। उपन्यास की शुरूआत में एक किरदार कहता है- "एक दिन तुम अपने जन्म और परवरिश के लिए शर्मिंदा होगी, उनका गुमान नहीं कर पाओगी।" लैला भी हुसैन की तरह अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ी है और उसने लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर किया है। उसका, महलनुमा घर जिसमें रिश्तेदारों व नौकरों की फौज है एक "जींवत प्रतीक" है। 1948 के पांच साल बाद जब वह वापस लौटती है तो यह घर खंडहर बन चुका है।

अतिया लिखती हैं- "इस घर ने एक जीवन शैली को दफ़न करके दूसरी अपना ली है। इस क्षय में मैंने अपने जीवन के सभी वर्ष देखें हैं- वे साल जिनमें एक जीवन जीने का तरीका विकसित हुआ था और वे कुछ साल जिनमें ये खत्म हो गया है। पर अतिया के उपन्यास को जो बात अन्य बंटवारे पर आधारित किताबों से अलहदा करती है वह है- कड़वाहट का अभाव। अतिया की कहानी में इस बात का स्पष्ट चित्रण व समझ है कि कुछ मुसलमान परिवारों ने पाकिस्तान जाना मंजूर क्यों किया व कुछ यहीं के होकर क्यों रह गये। दोस्ती और सदभाव संवेदना विहीन समझ उनके लेखन में उभर कर आती है। उनके मन में सवाल और शक भी है पर वह उनसे ऊपर उठ जाती हैं। संघर्ष, चाहे वह नियति के विरुद्ध हो या पीड़ा के और ज़िंदगी के प्रति सकारात्मक स्वीकृति उनकी लिखी कहानियों में एक दुनियादारी का पुट देकर उन्हें अनेकता और बहुसांस्कृतिकता का वसियतनामा बनाती है।

रक्षंदा जलील *साहित्य, संस्कृति व समाज संबंधी मुद्दों पर लिखती हैं।*

संवाद

आदमी से उम्मीद कैसी -अंजू

जी.बी. रोड राजधानी दिल्ली का रेड-लाइट एरिया है। यहां पर रहने वाली यौनकर्मी महिला अंजू से बातचीत के कुछ अंश, उनके अपने शब्दों में ही हम आपके साथ बांट रहे हैं। इस काम में मजबूरीवश आने वाली अंजू एक ऐसी सशक्त औरत का प्रतीक है जिसने कठिन परिस्थितियों के बावजूद एक सुनहरे कल के सपने देखने की हिम्मत की है।

अमृताः तुम्हारा नाम क्या है? कहां रहती हो?

अंजूः मेरा नाम अंजू है। मैं जी.बी. रोड पर रहती हूं।

अमृताः अंजू तुम यहां कैसे आई। क्या तुम्हारी शादी हुई है?

अंजूः मेरी शादी हो गई थी। पति ने छोड़ दिया। वह अच्छा आदमी नहीं था। मारता-पीटता था। फिर मैं किसी के चक्कर में आ गई और उसने यहां लाकर छोड़ दिया।

अमृताः उस समय तुम्हारी उम्र क्या थी?

अंजूः मुझे यहां आए पंद्रह साल हो गए हैं।

अमृताः जब यहां आईं तो कितने साल की थीं?

अंजूः करीब बीस साल की।

अमृताः तुम्हारे माता-पिता कहां हैं?

अंजूः जब मैं यहां आई थी तो मां-बाप से बीस सालों तक नहीं मिली थी। फिर मेरे पास आने वाले एक आदमी को मैंने अपनी कहानी बताई। उसने घर ढूंढ कर मुझे माता-पिता से मिलवाया। मिलकर वे बहुत खुश हुये। तभी से आना जाना हो गया है। सब लोग ठीक हैं घर में।

अमृताः जब इतने साल मां-बाप से नहीं मिलीं तो कैसे रहती थीं?

अंजूः मैं बहुत दुखी रहती थी। मैं अपने मां-बाप को बहुत प्यार करती हूं। जब उनसे नहीं मिली थी तो बहुत रोती थी। किसी से भी नहीं बोल पाती थी। अब मेरे मां-बाप मिल गये तो बहुत खुश हूं।

अमृताः जब यहां आई तो तुम बहुत छोटी थीं, दिल्ली में किसी को जानती भी नहीं थीं। जी.बी. रोड पर अनुभव कैसा रहा?

अंजूः मुझे मालूम नहीं था कि यह जी.बी. रोड है। हम यूपी से आये थे। जब सुना कि यहां रण्डी रहती हैं तब समझ में आया। फिर भी मैंने सोचा कि मैं झाड़ू-बर्तन मांज कर गुज़ारा कर लूंगी। कुछ लोगों ने कहा कि रण्डी बस शादी-ब्याह में डांस करती हैं। मैंने सोचा मैं भी कर लूंगी। इन लागों के साथ डांस करने जाऊंगी तो वही से घर चली जाऊंगी। पर बाद में पता चला कि जो धन्धा करती हैं वो ही यहां रहती हैं। मैं भी यही करने लगी। मजबूरी इतनी थी कि यहीं की होकर रह गई।

अमृताः मां-बाप से इतने सालों बाद मिलीं तो क्या बताया उन्हें कि कहां थीं और क्या काम करती थीं?

अंजूः मां-बाप को बताया कि हास्पिटल में काम करती हूं। कहा एक आदमी मिल गया था जो टूरिस्ट गाइड का काम करता था उसी से मैंने शादी कर ली थी। उसी आदमी से मां-बाप को मिलवाया था।

अमृताः आप हिन्दू हैं कि मुसलमान?

अंजूः मैं मुसलमान हूं।

अमृताः पर आपने नाम हिन्दू ले रखा है?

अंजूः यहां नाम बदल के रहती हूं।

अमृताः यहां पर जीने में क्या परेशानी आती है?

अंजूः यहां परेशानी तो बहुत हैं। यह कोई अच्छी जगह तो है नहीं। मजबूरी में इन्सान को यही काम करना पड़ता है। यहां से बाहर निकलकर कहीं जा नहीं सकते।

अमृताः और क्या तकलीफ़ है?

अंजूः जब इन्सान की ज़्यादा उमर हो जाती है तो ग्राहक भी कम हो जाते हैं। जब यहां नया-नया आता है तो इन्सान अच्छा पैसा कमाता है। जब उमर ढल जाती है तो कुछ नहीं कमा पाता है। इसलिए पहनने-ओढ़ने में, खाने-पीने में, रहने में परेशानी हो जाती है।

अमृताः उम्र बढ़ने पर यहां रहने में कैसे परेशानी हो जाती है?

अंजूः उम्र बढ़ने के बाद मकान मालिक इतनी पूछ थोड़ी करती है। जो अच्छी-अच्छी जवान लड़कियां होती हैं, जो अच्छा पैसा कमाती हैं उन्हीं की पूछ करती हैं।

अमृताः अब तो आप सीनियर हो?

अंजूः वो तो है पर अगर कमरा बिक जाये तो हम यहां थोड़ी रह सकते हैं। मकान मालिक अभी बेचने की बात कर रहे हैं। मालिक लोग यहां से दूर रहते हैं अगर वो बेच देगें तो हमें जाना ही पड़ेगा।

अमृताः अंजू, आपकी ज़िन्दगी इतनी कठिन, इतनी मुश्किल रही है पर आप इन कठिनाइयों को झेलकर भी अपनी बिटिया को पढ़ा लिखा रही हो।

अंजूः जब मेरे बच्चे नहीं हुये थे तब मैंने ऊपर वाले से दुआ की थी कि मुझे लड़की पैदा न हो। पर ऊपर वाले ने मुझे लड़की दे दी। मैंने सोचा था लड़का होगा तो कहीं भी जाकर रह लेगा। अपना कुछ भी कर लेगा। लड़की हो गयी तो मेरी ज़िन्दगी खराब हो जायेगी। अगर मैं मर गयी तो क्या पता लोग उसे यहां ले आएं या वह अपनी मर्ज़ी से यहां आ सकती है। तब क्या होगा। कुछ नहीं होगा तो परेशानी की वजह से भी वह यहां आ सकती है। फिर मैंने सोचा था कि मैं यहां से काम छोड़ दूंगी पर ऐसा नहीं हो पाया। इसलिए मैंने लड़की को छोटेपन से ही यहां से हटा दिया था। खर्चा पानी देती रहती हूं उन लोगों को जो उसकी देखभाल करते हैं। बाहर ही पढ़ाया-लिखाया। वह बाहर ही रहती है। यहां पर कभी नहीं लाती हूं उसे।

अमृताः कितनी बड़ी है आपकी लड़की? स्कूल में पढ़ती है? उससे कैसे मिलती हो?

अंजूः दस साल की है मेरी लड़की। वह अलग रहती है यहां से दूर। मिलना होता है तो मैं वहीं पर चली जाती हूं। मेरी लड़की को कुछ नहीं पता है यहां का।

अमृताः बिटिया को लेकर आपके क्या सपने हैं?

अंजूः मैं उसकी शादी करना चाहती हूं। जिनके पास रहती है उनसे भी कहती हूं कि अगर मैं मर गयी तो उसकी शादी कर देना। अगर मैं ज़िन्दा रही तो खुद उसकी शादी करूंगी।

अमृताः उसे कितना पढ़ाओगी?

अंजूः जब तक वह पढ़ेगी उसे पढ़ाऊंगी। उसे छोटे से पढ़ने में लगाया है। ट्यूशन में भी पढ़ाया है। मुझे कुछ नहीं आता था, उसके साथ-साथ मुझे भी पढ़ना आ गया।

अमृताः क्या आप कभी स्कूल गयी थीं?

अंजूः नहीं, मैं स्कूल कभी नहीं गई।

अमृताः तुमने यहां पर पढ़ना सीखा है?

अंजूः हां, मैंने यहां पर पढ़ना सीखा। मैंने यहां पर अपनी लड़की के लिए मास्टरजी लगवाये थे तो उन्हीं मास्टरजी ने थोड़ी बहुत हिन्दी सिखायी। नाम लिखना आ गया है। पढ़ भी लेती हूं। लिख भी लेती हूं थोड़ा बहुत।

अमृताः जिस संस्था के साथ आप जुड़ी हैं उसके बारे में कुछ बतायें।

अंजूः मेरी संस्था यहां सेक्स वर्कर्स की मदद करती है। हम एड्स पर काम करते हैं। बीमारी के बारे में बताते हैं।

बीमारी होती है तो अस्पताल ले जाते हैं। उनको बताते हैं कि बीमारी कैसे-कैसे फैलती है। कंडोम के बारे में भी बताते हैं। लड़कियों को कंडोम लाकर देते हैं।

अमृताः तो आप एडयूकेटर हैं इस संस्था के साथ जी.बी. रोड पर?

अंजूः हां जी।

अमृताः और कुछ बताना चाहती हैं आप? पैसे वगैरह जमा कर पाई हैं आप अपनी बिटिया के लिए? उसकी पढ़ाई के लिये।

अंजूः हां, उसको पढ़ाने-लिखाने के लिये पैसे जोड़ती हूं। उसके लिये घर भी बनाया है, अलग से रहने के लिये। उसके लिये पैसे भी जोड़े हैं अलग से कि अगर मैं मर गई तो जिनके पास वह रहती है वे उसकी शादी करा सकें।

अमृताः अंजू आपने बहुत हिम्मत से काम लिया है। आपने मुझे यह भी बताया कि यहां पर कई बार किसी बच्ची को कोई ज़बरदस्ती बेचने आ जाता है तो आप ऐसी बच्चियों को नहीं खरीदती। क्यों?

अंजूः हां, मैंने ऐसा किया है। कुछ लड़कियों को समझाया है कि जो आदमी बहला-फुसलाकर यहां ले आते हैं वे उनके साथ न रहें। बताया कि उन्हें फंसाकर यहां लाया गया है। यहां पर काम करने से अच्छा है वापस घर चली जाओ। गांव से लड़कियां आदमियों के साथ आ जाती हैं। उन्हें नहीं पता होता कि यहां क्या काम होता है।

अमृताः क्या कुछ और कहना चाहती हो?

अंजूः अच्छे आदमी नहीं मिलते हैं। प्यार-मोहब्बत में फंसा लेते हैं लड़कियों को। फिर उनकी कमाई खाने लग जाते हैं। जब उमर ढल जाती है तो उसे छोड़कर चले जाते हैं। आदमी भी धोखा दे जाता है। पैसे भी इन्सान यहां जोड़ नहीं पाता है। यहां पर रहना मुश्किल हो जाता है।

अमृताः पर तुम तो अच्छी तरह से रह पाई हो। तुमने अभी तक अच्छी ज़िन्दगी बिताई है।

अंजूः हां, रह पाई। मगर कोई-कोई ही तो रह पाता है न। सब इन्सान नहीं रह पाते। अब देखो रत्ना कितनी परेशान है। बेचारी बूढ़ी है, उसको कोई नहीं पूछता। कोई दस-पांच रुपये देता है तो अपना गुज़ारा करती है। उसका लड़का यहीं कोठे पर रहता है पर कुछ नहीं कर पाता।

अमृताः रत्ना यहीं तुम्हारे कोठे पर रहती है?

अंजूः हां, वह बूढ़ी औरत है। यहीं हमारे कमरे पर रहती है। उसकी लड़की बाहर पढ़ती है। रत्ना के पास इतना भी नहीं है कि अगर कोई बीमारी हो जाये तो अपना इलाज करा ले। जब जवानी थी तो बहुत सारे आदमी थे। पर आज उसको कोई नहीं पूछता। मुश्किल से अपना पेट भरती है। इसलिये यह जगह बुरी है। जवानी तो यहां बहुत अच्छी कट जाती है पर बुढ़ापा नहीं कटता।

अमृताः यहां रह कर तुमने अपनी बेटी को अलग रखा। उसे पढ़ा लिखा रही हो, इस माहौल से दूर। अपने मां-बाप से जब तुम मिली तो क्या तुमने रुपये पैसे से उनकी कुछ मदद की?

अंजूः नहीं, मां-बाप इतने गरीब नहीं थे। अच्छा कमाते खाते थे। मां-बाप को मेरे पैसे की ऐसी कोई ज़रूरत नहीं थी। मैं तो मजबूरी में ऐसी जगह आ गई थी। गरीबी की वजह से नहीं आई थी। मुझे खाने या पहनने को कम नहीं था। यह था कि गांव की रहने वाली थी। पढ़ी लिखी नहीं थी। जैसा कोई कहता था वैसे सुनती थी। इतना मालूम भी नहीं था। किसी के चक्कर में यहां आकर फंस गई।

अमृताः इस घर में कैसे आई थीं।

अंजूः दो तीन दिन उस आदमी ने मुझे इधर-उधर रखा था मुझे बेचा नहीं था, ऐसे ही यहां लाकर छोड़ दिया था रोड पर। मैं जिस के पास रही वो अच्छी औरत थी। फिर बस उन्हीं के पास रहने लगी।

अमृताः तो जो यहां मालकिन थी वो अच्छी थी।

अंजूः बहुत ठीक थीं। उन्हीं की जगह पर मैं रहने लगी। उनसे मुझे कोई परेशानी नहीं थी। मैं बीस साल की उमर से काम कर रही हूं अब पंद्रह साल हो गये काम करते-करते। जब उमर ढल जाती है तो कुछ भी नहीं होता। इसलिये यह जगह ठीक नहीं है हमारे लिये। जवानी में तो सब कुछ ठीक है। जो जवानी में इस जगह से निकल जाता है उसकी ज़िन्दगी अच्छी कट जाती है।

अमृताः अंजू अभी आप कह रही थीं कि औरत को किसी पर भरोसा नहीं करना चाहिये।

अंजूः किसी आदमी पर भरोसा नहीं करना चाहिये। अपने लिये अपनी मेहनत से सब कुछ करना चाहिये। आदमी के पास कितना भी हो, चाहे कितना भी वह कहे पर तुम्हें आदमी पर भरोसा नहीं करना चाहिये। आदमी सब ऐसे ही पागल बना देते हैं। कोई सच्चे नहीं होते। औरत को अपनी मेहनत से ही अपने लिये जोड़ लेना चाहिए।

अमृताः और प्यार...?

अंजूः प्यार-व्यार क्या है? सब ऐसे ही बेवकूफ बनाते हैं। आजकल तो सभी कहते है कि हम तुमसे प्यार करते हैं। यहां आते हैं अपने शौक के लिये। क्या वे प्यार करेंगे सब से? कुछ प्यार-व्यार नहीं करते।

अमृताः तो औरत को अपनी मेहनत कर के पैसे जोड़ने चाहिये?

अंजूः हां, अपनी मेहनत कर के दो पैसे जोड़ने चाहिये। अपना बुढ़ापा भी है उसके लिये देखना चाहिये। हारी-बीमारी के लिये भी जोड़ के रखना चाहिये। पैसा है अपने पास तो सब कुछ है वरना कुछ नहीं है। आदमी चाहे कितना भी चाहने वाला हो। उसके पास कितना भी हो वह सिर्फ़ अपने लिये सोचता है। अपने घर के बारे में सोचेगा हमारे लिये कुछ नहीं सोचेगा। वह अपना उल्लू सीधा करता है हमारे पास आ कर। आता है हमारे संग सोने के लिये। पैसा देकर मतलब निकालता है। उससे उम्मीद नहीं करनी चाहिए।

*इस साक्षात्कार के लिए हम **अंजू** व **अमृता** का शुक्रिया अदा करते हैं।*
अंजू के साक्षात्कार को कलमबद्ध करने के लिए हम दीप्ति श्रीवास्तव के आभारी हैं।

कैसे नाज़ों से हूं मैं पली

कमला भसीन

कैसे नाज़ों से हूं मैं पली
संगी साथी हैं फूल औ कली

कभी तितली हंसाने लगे
कभी छेड़े चिड़ी मनचली

सब आएं सहलाएं मुझे
जाने क्या क्या किरन कह चली

चमके सूरज मेरे अंगने में
आए चंदा भी मेरी गली

नीम और पीपल की छैयां कहीं
कहीं लहराए चम्पा भली

खुशबू फूलों से लाई हवा
लाके तन मन में मेरे मली

संग नदियों के दौड़ूं चलूं
ताल तलय्यों में फूली फली

देख उल्फ़त का आलम यहां
हर मुसीबत है मेरी टली

आमने-सामने

अपने हक़ों के लिए संघर्ष जारी है

दयामणि बारला

लोग मुझसे पूछते हैं- तुम सामाजिक सेवा में हो, कैसे इस काम से जुड़ गईं? इस सवाल का जबाव मेरे पास नहीं हैं। कब से, और कैसे, मैं नहीं जानती। जब से होश संभाला मैंने अपने परिवार को लुटते देखा है। दस साल की उम्र से अपने माता-पिता की ग़रीबी व मजबूरी महसूस की है। मेरे अनपढ़ पिताजी से कोरे कागज़ पर अंगूठा लगवाकर, पिताजी को मिली ज़मीन को, गुमला ज़िले के अधिकारी ने अपने साले के नाम कर दिया। मेरा परिवार ज़मीन वापस पाने के लिए कई सालों तक कोर्ट के चक्कर लगाता रहा। पर पैसे वाले परिवारों ने गांव वालों को धमकी देकर चुप करा दिया। मेरे पिता की तरफ से कोई भी गवाही देने कचहरी नहीं आया।

सभा को सम्बोधित करती दयामणि बारला

मेरे माता-पिता जो दस एकड़ ज़मीन के मालिक थे अब भूमिहीन हो गये थे। जो पहले साल भर खुद भी खाते थे और दूसरों को भी खिलाते थे— अब दूसरों की नौकरी कर रहे थे। हमारा परवार बिखर गया। पिताजी दूसरे गांव में मज़दूरी करने लगे, बड़ा भाई अपने ही गांव में दूसरों के घर नौकर बन गया। मां रांची में दाई और मंझला भाई कुली का काम करने लगे। खाली घर में मैं और एक छोटा भाई रह गये। गाय-बैल-भैंस, बकरी सभी केस लड़ते-लड़ते बिक चुके थे।

तेरह साल की उम्र में मैंने से दूसरों के खेत में मज़दूरी करके ज़िंदगी को नयी यात्रा शुरू की। महुआ, लाह, करंज, आम, कटहल, इमली, डुमर, पाकर, बेर, साग-पात तोड़ कर चुन-बीन कर खाना जीवन का एक हिस्सा बन गया। लेकिन जाने-अनजाने उंगलियों ने जो कलम-कागज़ थाम लिये थे, वे हमेशा साथ रहे। चिलचिलाती धूप, मूसलाधर पानी, गरजती बिजली, कड़कती ठंड ने हमेशा लड़ने और जीने का हौसला बुलंद किया।

पता ही नहीं चला कि कब मिडिल स्कूल पास किया। अब रांची जाकर पढ़ना चाहती थी। हाथ में आठवीं पास सर्टिफिकेट लिये अकेले रांची आ गयी। सभी कुछ नया था। मां-भाई कहां थे पता नहीं था। एक गौशाला में रहने का इंतज़ाम किया और संत मार्ग्रेट हाई स्कूल रांची की नौवीं कक्षा में दाखिला लिया। गांव के स्कूल और रांची के विद्यालय में ज़मीन आसमान का अंतर था। अपने सहपाठियों और शिक्षकों का भरपूर प्यार और सहयोग

मिला। मैंने खर्चा चलाने के लिए घरों में चौका-बर्तन शुरू कर दिया।

मन में एक ही ख्वाब था- परीक्षा पास करनी है। कॉलेज जाना है। यह अवसर भी मिला। कई संस्थानों में पार्ट टाईम काम करके, बच्चों को ट्यूशन पढ़ाकर मैंने एमकॉम पास कर लिया। दो साल एक गैर सरकारी संस्था में नौकरी की। वहां भी वही छलावा, झूठ-फरेब देखा। विद्रोह किया और नौकरी छोड़ दी। मेरे सामने अब दो रास्ते थे। अपनी ज़िंदगी के लिए नौकरी के रास्ते को चुनना या आदिवासी किसानों, दलितों और ज़रूरतमंदों के साथ जीना।

मुझे दूसरा रास्ता अच्छा लगा— जहां से आज मैं आपके बीच हूं।

1995 में वर्तमान खूंटी ज़िले और गुमला ज़िले के बीच बह रही कोईल और कारो नदी को बांध कर 710 मेगावाट की बिजली बनाने की सरकार ने घोषणा की। इस बांध से 256 गांव डूब जाते। ढाई लाख की आबादी अपने घरों से उजड़ जाती। कुल 55 हज़ार एकड़ ज़मीन जलमग्न हो जाती और 27 हज़ार एकड़ जंगल भी डूब जाता। हमने विरोध किया। हमारा एक ही नारा था- जान देंगे लेकिन ज़मीन नहीं देंगे। सन 2000 में आठ साथियों की शहादत के बाद आंदोलन विजयी रहा।

1996 में वरिष्ठ पत्रकार, फैसल अनुराग और वासवी किडो के मार्ग दर्शन में आदिवासी युवक-युवतियों ने मिलकर एक पत्रिका "जनहक" निकलाना शुरू किया। गांव-गांव की बातों को लेखन के माध्यम से राजतंत्र और ज़िम्मेदार व्यक्तियों के सामने लाने का प्रयास किया गया। आदिवासियों के इतिहास, भाषा-संस्कृति और वर्तमान चुनौतियों पर लेखन को आगे बढ़ाने का अवसर प्रभात खबर ने दिया। 2000 में वरिष्ठ पत्रकार श्री पी साईनाथ जी की ओर से ग्रामीण पत्रकारिता के लिए हमारे समूह को दस हज़ार रुपये, एक कैमरा, एक टेपरेकॉडर ईनाम में मिला।

हड़ताल पर बैठे साथियों के साथ दयामणि बारला

राज्य के आदिवासियों के अधिकारों पर संघर्ष करते हुए पहली बार सन 2000 में बंगलादेश के आदिवासियों के बीच जाने का मौका मिला। वहां कई देशों के आंदोलन के प्रतिनिधि आये हुए थे। यहां विश्व के हर कोने में रहे आंदोलनों को समझने का मौका मिला। साथ ही अंग्रेज़ों के समय झारखंड से कुली का काम करने के लिए ले जाए गये आदिवासियों से मिलकर उनकी पीड़ा को भी जाना। इसी के फौरन बाद मैं अफ्रीका के एक सम्मेलन में गई। उसी समय डरबन में नस्लवाद पर सम्मेलन हो रहा था। उस सम्मेलन में विश्व के आदिवासियों से जुड़े मुद्दों को समझा। 25 दिनों के अफ्रीका प्रवास के दौरान ही पानी व बिजली के निजीकरण से जनता पर होने वाले प्रभावों पर समझ बनाने का अवसर भी मिला। इन गतिविधियों के अलावा मैं *कोयलकारो जल विद्युत परियोजना* में महिलाओं के नेतृत्व को बढ़ाने के लिए सतत रूप से काम कर रही हूं।

आज देश की सरकार पूरी तरह से देश-विदेश के पूंजीपतियों के समर्थन में उतर आयी है। किसानों से ज़मीन छीनकर पूंजीपतियों को मुनाफ़ा कमाने के लिए सौंप रही है। केन्द्र सरकार अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत आदिवासियों व किसानों को गोलियों से भून रही है। झारखंड को अलग राज्य बने करीब दस साल हो गये। राज्य सरकार ने इस समय में लगभग 104 विदेशी कम्पनियों के साथ अनुबंध किये हैं। कई दर्जनों गांव और आदिवासी इलाकों को विस्थापित करके स्टील प्लांट, बिजली उत्पादन परियोजनाएं आदि लगाने का विचार है। हम लोग इस विनाशकारी विकास के विरुद्ध जन आंदोलन से जुड़े हैं। अब देखना है कि जनता की जीत कब होगी। तब तक हमारा संघर्ष जारी रहेगा।

संवाद

एक 'अनोखी' दास्तान

मनोरमा दीवान

यदि मुझे अपने जीवन को केवल तीन शब्दों में बयान करने के लिये कहा जाये तो मेरा उत्तर होगा 'अनोखा'।

जन्म लेते ही कानों में जो पहले शब्द सुनाई दिये वे थे इंक्लाब-ज़िन्दाबाद। माता-पिता दोनों स्वतन्त्रता सेनानी थे। हमारा परिवार लाहौर (पंजाब) के प्रसिद्ध लाजपत राय भवन में रहता था जिसे 'क्रान्तिकारियों की बस्ती' - आज़ादी का गढ़ कहा जा सकता था।

पिता प्रिंसीपल छबीलदास स्वतन्त्रता आन्दोलन में असहयोग आन्दोलन के दौरान स्थापित नेशलन कॉलेज के प्रिंसिपल रहे थे। शहीद भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु तथा अन्य बहुत से क्रान्तिकारी उनके छात्र थे।

मेरा बचपन राजनैतिक सभाओं में अपने माता-पिता के साथ जाने, सुबह की प्रभात फेरियों में हिस्सा लेने तथा आज़ादी के गाने गाने और नाटक खेलने में गुज़रा था।

मैंने उन स्थानों को भी देखा था जहां भगतसिंह पढ़ते थे और जहां उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियां हुई थीं।

9 अगस्त 1942 के दिन गांधी जी द्वारा चलाये आन्दोलन 'अंग्रेज़ों भारत छोड़ो' में मेरे माता-पिता एक साथ गिरफ्तार हुये। उस समय मैं छः वर्ष की थी। अपनी बहनों और छोटे भाई के साथ हमने हंसते हुए उत्साह से *इंक्लाब ज़िन्दाबाद, भारत माता की जय* और *आज़ाद करेंगे हिन्द तुम्हें* के नारे लगाते हुये उन्हें जेल रवाना किया था।

मेरी माता, सीता देवी भी एक स्वतन्त्रता सेनानी थीं। लाहौर की महिला सेन्ट्रल जेल में मुझे उनके साथ रहने का अवसर मिला। 9 अगस्त 1943 के दिन मां तथा अन्य स्वतन्त्रता सेनानी महिलाओं को मैंने ब्रिटिश जेल पर तिरंगा झन्डा लहराते हुए देखा।

स्वतंत्रता संग्राम के इसी जोशीले माहौल में मैं पली-बढ़ी। ज़ाहिर है कि देशभक्ति की भावना मेरी रगों में दौड़ती थी।

1947 में भारत का विभाजन हुआ और हमारा परिवार लाहौर से भारत आ गया।

1957 में पत्रकार-लेखक बीरेन्द्रनाथ दीवान जो उर्दू में ज़फ़र पयायी के नाम से लिखते थे से मेरी शादी हुई। इस शादी पर वर-वधू दोनों की तरफ़ से कुल तेईस रुपये खर्च हुए थे। न बैन्ड-बाजा, बारात और न ही दहेज लेन-देन किया गया।

मेरे पत्रकार जीवन की शुरुआत पश्चिम एशियाई देशों की लम्बी यात्राओं के दौरान हुई। पाकिस्तान, ईराक, ईरान, सीरिया, मिस्र आदि देशों की सभ्यता और रहन-सहन को करीब से देखने पर एहसास हुआ कि पर्दे में रहने वाली औरतों का जीवन कितना कठिन और बोझिल होता है।

फिलस्तीनी शरणार्थियों के कैम्पों में काम करते हुए उन इंसानों की परेशानी को करीब से महसूस किया जो अपना घर छोड़ने पर मजबूर हुये थे। इनमें बड़ी संख्या महिलाओं की थीं।

सन 1970 में मेरे पति और मैंने भारतीय पत्रकारिता मे एक नया परीक्षण किया। हमने एक बहुभाषीय न्यूज़ फ़ीचर एजेंसी की शुरुआत की। प्रेस एशिया इंटरनेशनल फ़ीचर एजेंसी के माध्यम से हिंदी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी, मराठी, गुजराती व तमिल भाषाओं में दैनिक फ़ीचर, लेख व रिपोर्टें भेजी जाने लगीं।

हमने अरबी भाषा में भी साप्ताहिक फ़ीचर सर्विस आरम्भ की। उसके लिये बहुत से अरब देशों के समाचार पत्रों और न्यूज़ एजेन्सियों से भागीदारी बनाई।

प्रेस एशिया इन्टरनेशनल फ़ीचर के सम्पादन की ज़िम्मेदारी सम्भालना मेरे लिए एक चुनौतीपूर्ण अनुभव था।

1971 में भारत-पाक युद्ध के दौरान रिपोर्टिंग करने वाली मैं पहली महिला पत्रकार थी। गोलाबारी और लाशों के साये में बिताये इस समय ने मेरे ज़ेहन से डर की भावना को पूरी तरह मिटा दिया। साथ ही युद्ध की अनिवार्यता का प्रश्न भी मन को झकझोरने लगा। मैंने भारत जैसे विकासशील देश के अस्त्र-शस्त्र पर बढ़ते ख़र्च और युद्ध के सामाजिक, आर्थिक-राजनैतिक नुक्सानों पर लेख लिखने शुरू किये।

अब मैंने अपनी कलम को महिलाओं के सामाजिक दर्जे को उजागर करने के प्रयासों में लगाने का निश्चय किया है। मैं अपने परिवार की तीसरी बेटी थी जिसे मेरे मौसाजी ने "फालतू" का नाम दे दिया था। बेटियों के दुःखों का कलमबद्ध करके मैंने 'फालतू' पुस्तक की रचना की।

इसके अलावा मैंने अपने लेखों में महिलाओं के अधिकारों के विषय से सम्बन्धित ढेरों प्रश्नों पर लिखा। क्या हर महिला के जीवन का एकमात्र उद्देश्य विवाह ही है? अविवाहित माताओं का समाज में क्या स्थान है? पत्नी को पति को छोड़ने का कानूनी अधिकार क्यों नहीं है? कार्यशील हो जाने पर भी महिलाओं को समाज में बराबरी का स्थान क्यों नहीं मिलता? परिवार चलाने में गृहणियों के महत्वपूर्ण योगदान को कोई महत्व क्यों नहीं दिया जाता? उन्हें पारिवारिक सम्पति में बराबर का हक़ क्यों नहीं मिलता? विधवा हो जाने पर महिला का जीवन क्यों समाप्त हो जाता है? उसकी भावनाओं-इच्छाओं का सम्मान क्यों नहीं किया जाता?

इन तमाम प्रश्नों पर मैंने अनेक लेख, कहानियां और फ़ीचर लिखे हैं। मुझे उम्मीद है कि कहीं न कहीं इन विचारों का समाज की सोच पर प्रभाव पड़ता है। अगर अपनी कलम के माध्यम से मैं समाज के नज़रिये में कुछ बदलाव लाने में कामयाब हो पाती हूं तो मैं समझूंगी कि मेरा जीना सार्थक हो गया है।

मनोरमाजी *दिल्ली में रहती हैं। आज भी वह अपने क्षेत्र के कार्यों में सक्रिय हिस्सा लेती हैं।*

नया प्रकाशन

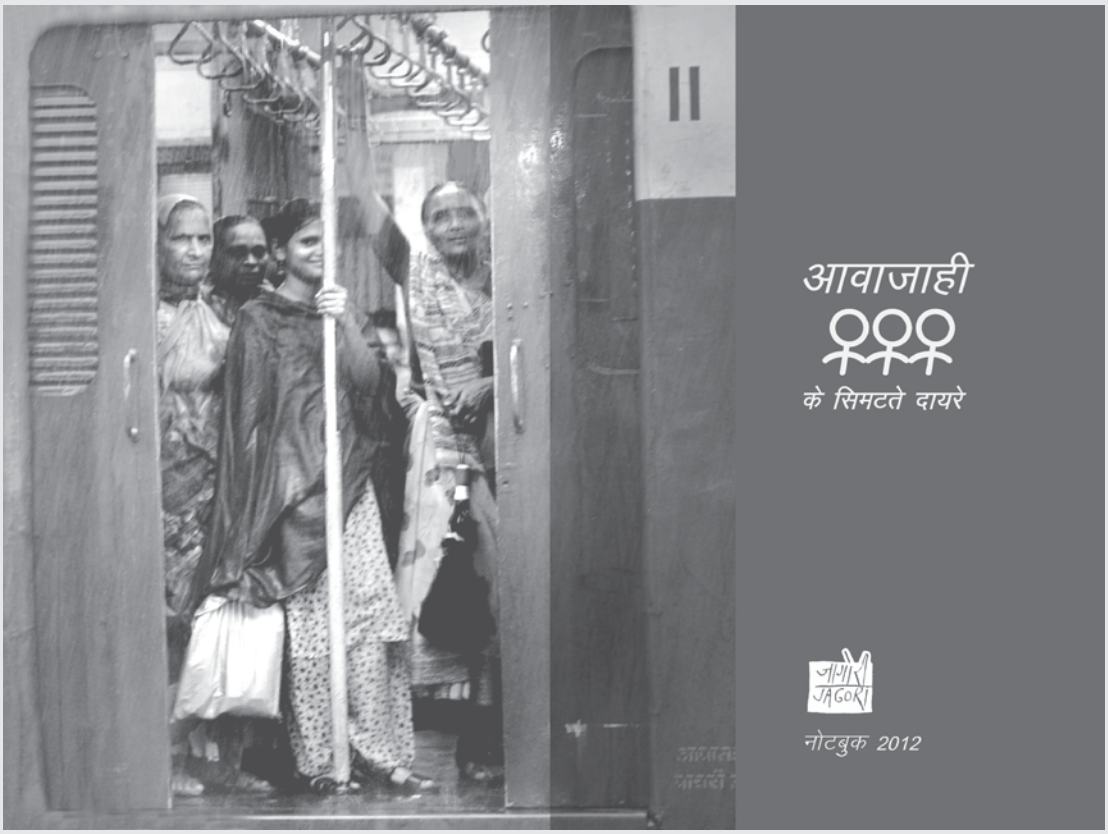

प्रतियां मंगवाने के लिए संपर्क करें:
महावीर सिंह, जागोरी
फ़ोनः 011-26691219/20 • distribution@jagori.org

आम्रपाली

अनामिका

था आम्रपाली का घर, मेरी ननिहाल के उत्तर !
आज भी हर पूनो की रात, खाली कटोरा लिये हाथ
गुज़रती है वैशाली के खंडहरों से बौद्धभिक्षुणी आम्रपाली।

अगल–बगल नहीं देखती,
चलती है सीधी मानो खुद से बातें करती
शरदकाल में जैसे,
पकने को छोड़ दी जाती है, लतर में ही लौकी ।
पक रही है मेरी हर मांसपेशी, खदर–बदर है मेरे भीतर का
हहाता हुआ सत !

सूखती–टटाती हुई, हड्डियां मेरी
मरे कबूतर–जैसी, इधर–उधर फेंकी हुईं मुझमें।
सोचती हूं क्या वो मैं ही थी
नगरवधू बज्जिसंघ के बाहर के लोग भी जिसकी
एक झलक को तरसते थे?
ये मेरे सन–से सफ़ेद बाल, थे कभी भौरे के
रंग के, कहते हैं लोग,
नीलमणि थीं मेरी आंखें, बेले के फूलों–सी झक सफ़ेद दन्तपंक्तिः
खंडहर का अर्द्धध्वस्त दरवाज़ा हैं अब जो !

जीवन मेरा बदला, बुद्ध मिले, बुद्ध को घर न्योतकर
अपने रथ से जब मैं लौट रही थी
कुछ तरुण लिच्छवी कुमारों के रथ से
टकरा गया मेरे रथ का
धुर से धुर, चक्के से चक्का, जुए से जुआ !
लिच्छवी कुमारों को ये अच्छा कैसे लगता,
बोले वे चीखकर
''जे आम्रपाली, क्यों तरुण लिच्छवी कुमारों के धुर से धुर
अपना टकराती है?''

''आर्यपुत्रों, क्योंकि भिक्खुसंघ के साथ
भगवान बुद्ध ने भात के लिए मेरा निमन्त्रण किया है स्वीकार !''
''जे आम्रपाली ! सौ हज़ार ले और इस भात का
निमन्त्रण हमें दे ।''

''आर्यपुत्रों, यदि तुम पूरा वैशाली गणराज्य भी दोगे,
मैं यह महान भात तुम्हें नहीं देनेवाली !''
मेरा यह उत्तर सुन वे लिच्छवी कुमार
चटकाने लगे उंगलियांः
'हाय, हम आम्रपाली से परास्त हुए तो अब चलो, बुद्ध को जीतें !
कोटिग्राम पहुंचे, की बुद्ध की प्रदक्षिणा, उन्हें घर न्योता,
पर बुद्ध ने मान मेरा ही रखा
और कहा 'रह जाएगी करुणा, रह जाएगी मैत्री,
बाकी सब ढह जाएगा . . .'
''तो बहा काल–नद में मेरा वैभव . . .

राख की इच्छामती, राख की गंगा,
राख की कृष्णा–कावेरी, गरम राख की ढेरी यह काया
बहती रही सदियों इस तट से उस तट तक !
टिमकता रहा एक अंगारा,
तिरता रहा राख की इस नदी पर बना–ठना, ठना–बना तैरा
लगातार ! तैरी सोने की तरी !
राख की इच्छामती ! राख की गंगा ! राख की कृष्णा–कावेरी ।
झुर्रियों की पोटली में, बीज थोड़े–से सुरक्षित हैं

वो ही मैं डालती जाती हूं, अब इधर–उधर !
गिर जाते हैं थोड़े–से बीज पत्थर पर,
चिड़िया का चुग्गा बन जाते हैं वे,
बाकी खिले जाते हैं जिधर–तिधर, चुटकी–भर हरियाली बनकर।

सुनती हूं मैं गौर से आम्रपाली की बातें
सोचती हूं कि कमंडल या लौकी या बीजकोष
जो भी बने जीवन, जीवन तो जीवन है !
हरियाली की बीज का सपना, रस ही रसायन है !
कमंडल–वमंडल बनाने की खातिर
शदरकाल में जैसे पकने को छोड़ दी जाती है
लतर में ही लोकी
पक रही है मेरी हर मांसपेशी तो पकने दो, उससे क्या?
कितनी तो सुन्दर है, हर रूप में दुनिया !